निवेदन

स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक विकास में भारत की भाषाओं तथा उपभाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज यह अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे देश का अधिकांश पठित जन-समुदाय अपनी प्रादेशिक और समृद्ध जनपदीय भाषाओं के साहित्य से सर्वथा अपरिचित है। कुछ दिन पूर्व हमने 'सरस्वती सहकार' संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा 'भारतीय साहित्य-परिचय' नामक एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की योजना बनाई और इसके अन्तर्गत भारत की लगभग २७ भाषाओं और समृद्ध उपभाषाओं के साहित्यिक विकास की रूप-रेखा का परिचय देने वाली पुस्तकें प्रकाशित करने का पुनीत संकल्प किया। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य हिन्दी-भाषी जनता को सभी भाषाओं की साहित्यिक गति-विधि से अवगत कराना है।

हर्ष का विषय है कि हमारी इस योजना का समस्त हिन्दी-जगत् ने उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस पुस्तक-माला का एक मनका है। आशा है हिन्दी जगत हमारे इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करेगा। इस प्रसंग में हम पुस्तक के लेखक श्री श्याम परमार के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ अमूल्य क्षण निकालकर हमारे इस पावन यज्ञ में सहयोग दिया है। राजकमल प्रकाशन के सञ्चालकों को भूल जाना भी भारी कृतघ्नता होगी, जिनके सक्रिय सहयोग से हमारा यह स्वप्न साकार हो सका है।

२६७१ हाथीखाना
पहाड़ी धीरज, दिल्ली–६

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रस्तावना

'मालवी और उसका साहित्य' अपने विषय की प्रथम पुस्तक है। 'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:' की प्रेरणा से जीवन में अध्ययन की जो दिशा निर्धारित हो चुकी है उसीके फलस्वरूप प्रस्तुत सामग्री पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो रही है।

यही सब-कुछ अन्तिम नहीं है; नवीन मान्यताओं और परिवर्तनों के लिए काफी स्थान है। वस्तुत: यह तो विषय का आरम्भ है। मनन के क्षेत्र में उसका झुकाव सही-सही उद्देश्य की ओर होगा, इसी विश्वास के साथ मैंने इसे लिख डालने का द्रुत प्रयास किया है।

वर्षों से मालव-इतिहास का अनुसंधान करने वाले विद्वद्वर पं० सूर्यनारायण व्यास और महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह ने पुस्तक की सामग्री को आद्योपान्त पढ़कर कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे, जो बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' से मुझे जो आन्तरिक प्रेरणा और आत्म-विश्वास मिला है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है? मेरे अपने मित्र लेफ्टिनेण्ट भूपेन्द्रकुमार सेठी ने मुझे कई बार इस दिशा में लिखने के लिए प्रेरित किया। मुझे प्रसन्नता है कि उनकी प्रेरणा फलीभूत हो रही है। मैं उक्त सभी महानुभावों का हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

मालवी : सीमा और क्षेत्र

मालवा की सीमा

भारतवर्ष के मध्य भाग में थोड़ा पश्चिम की ओर हटकर चार प्रमुख भाषाओं से घिरा हुआ मालव-प्रदेश वर्तमान मध्य भारत प्रान्त के अन्तर्गत दक्षिण भाग में स्थित एवं उसके निकटवर्ती राज्यों में फैला हुआ एक उन्नत भू-भाग है।[1] भौगोलिक परिसीमाओं से सम्बद्ध यही भू-भाग मालवा का पठार कहा जाता है, किन्तु यह समझना भारी भूल होगी कि यह पठार अपने-आपमें एक ही भाषा, संस्कृति और जन का द्योतक है। यह तो उन्नत भू-भाग के लिए भौगोलिकों द्वारा निर्धारित नाम-मात्र है।

'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार मालवा विशेष रूप से उस उन्नत पहाड़ी पठार का द्योतक है, जो विन्ध्याचल की श्रेणियों से घिरा हुआ उत्तर में चम्बल नदी तक व्याप्त है तथा जो दक्षिण की ओर अपने में नर्मदा घाटी को सम्मिलित करता है।[2] इस प्रकार निमाड़ भी मालवा का ही

१. यह प्रदेश उत्तर अक्षांश २३° ३० से २४° ३० और पूर्व देशान्तर ७४° ३० से ७८° १० के मध्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग ७६३० वर्गमील है।

२. 'Strictly, the name is confined to the hilly table land bounded S by Vindhya ranges which drains north into the river Chambal but it has been extended to include the Narbada Valley further south'—Encyclopaedia Britanica (14th Edition) Page 747

अग बन जाता है। भाषा की दृष्टि से उसका कुछ भाग तो स्वभावतः है ही। वस्तुत. इसके मानचित्र पर दृष्टि डालते ही सहज में समझा जा सकता है कि यह पठार 'मालवा का पठार' इसलिए है कि इसमे मालव-जनपद का अधिकाश भाग सम्मिलित है।

डॉ० यदुनाथ सरकार ने अपने 'इण्डिया ऑव औरगजेब' नामक ग्रन्थ में मालवा के विषय में लिखा है : "स्थूल रूप से दक्षिण में नर्मदा नदी, पूरब में बेतवा एव उत्तर-पश्चिम में चम्बल नदी इस प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थीं।"[1] "पश्चिम में कॉठल एवं बाँगड़ के प्रदेश मालवा को राजपूताना तथा गुजरात से पृथक् करते थे और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा हाड़ौती प्रदेश तक पहुँचती थी। मालवा के पूर्व एव पूर्व-दक्षिण में बुन्देलखण्ड और गोण्डवाना के प्रान्त फैले हुए थे।"[2]

जहाँ तक कि विशेष जन, सस्कृति और भाषा का सम्बन्ध है, सीमा-विषयक उक्त मान्यता अनुचित नहीं है। इसमें किसी जनपद के लिए भाषा की दृष्टि से अनिवार्य एक सगठित रूप विद्यमान है। स्पष्ट है कि यह भाग सम्पूर्ण मालव-पठार का सूचक नहीं, उसका एक टुकडा-मात्र है। अतः मालवा की बोली का उल्लेख करते हुए सहसा यह मान लेना कि मालवी समस्त मालवा के पठार पर बोली जाती है, अनुपयुक्त होगा।

मालवी का क्षेत्र

मालवी दक्षिण में नर्मदा नदी के और मध्य में निमाड, भोपाल, नर-सिंहगढ, राजगढ, दक्षिण झालावाड़, मन्दसौर (दशपुर), नीमच, रतलाम,

१. डॉक्टर सरकार की यह मान्यता मालव सीमा-सम्बन्धी प्रचलित पंक्तियों—

'इत चम्बल, उत बेतवा, मालव-सीम सुजान।
दक्षिण दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहचान॥'

के ठीक-ठीक अनुरूप प्रतीत होती है।

२. महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह द्वारा लिखित, 'मालवा में युगान्तर' नामक ग्रन्थ से उद्धृत।

पूर्व झाबुआ आदि क्षेत्रों को अपने में मिलाती हुई उज्जैन, देवास और इन्दौर जिलों के आस-पास बोली जाती है। यद्यपि मालवी का अधिकांश क्षेत्र मध्यभारत प्रान्त के अन्तर्गत आता है तथापि राजनीतिक सीमाओं के बाहर राजस्थान के कुछ भाग में भी उसका प्रभुत्व है। मध्य प्रदेश के चाँदा और बैतूल जिलों में कुछ जातियों द्वारा भी मालवी बोली जाती है, जिसका उल्लेख उपभेदों के अन्तर्गत किया गया है। विशेष रूप से कोटा के टोंग-प्रदेश में मालवी बोलने वालों की बस्ती है, जिनकी बोली को टोंगेसरी कहते हैं।[1]

वर्तमान मालवी वैसे मध्य भारत के उज्जैन, इन्दौर, देवास, मन्दसौर और राजगढ़ जिलों में मुख्यतः प्रचलित है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४० लाख कूती जाती है। शासकीय व्यवहार की भाषा यद्यपि हिन्दी ही है, पर गाँवों में व्यापार-उद्योग में तथा नगरों के घरों में मालवी का ही व्यवहार सामान्यतः होता है। प्रकृति और स्वभाव के नाते मालवी सरल, धर्मभीरु, सौन्दर्यप्रिय, स्वस्थ और भोले लोगों की बोली है। ह्वेन त्साग (७वीं शताब्दी) ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में यही बात दूसरे शब्दों में बताई है। उसने मालवा की उपजाऊ मिट्टी, फसल और लोगों के स्वभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है: "इनकी भाषा मनोहर और सुस्पष्ट है।"[2]

ग्रियर्सन का भ्रमात्मक वर्गीकरण

मालवी शौरसेनी प्राकृत की सरणी से होती हुई अवन्ती-अ अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करती है। यद्यपि मध्यवर्ती अन्तरंग की भाषाओं में राजस्थानी भी शौरसेनी से सम्बन्धित

1 देखिए श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' एम० ए० का लेख ...स्थानी' जनवरी १९३२।

२. देखिए 'ह्वेनत्सांग का भारत-भ्रमण'। अनु०—ठाकुर 'महेश'।

यह धारणा विवादास्पद है कि मालवी राजस्थानी उपशाखा की एक बोली है। विवाद या मतभेद का मुख्य कारण जार्ज ग्रियर्सन द्वारा निर्धारित भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण है। ग्रियर्सन के पूर्व भारतीय भाषाओं एवं उपभाषाओं का किसी ने समग्र रूप से वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया था। ग्रियर्सन ने सन् १६०७–८ में 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' की बृहद् जिल्दों में राजस्थानी और उसके उपभेदों पर प्रकाश डालते हुए मालवी के सम्बन्ध में विचार किया है। उन्होंने सुविधा के लिए राजस्थानी को पाँच मोटे वर्गों में विभक्त किया। चौथा वर्ग 'दक्षिण पूर्वी राजस्थानी' या मालवी का है, जिसके मुख्य भेद रॉगड़ी और सोंधवाड़ी बताए हैं। प्रसिद्ध भाषाचार्य डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने यह उचित समझा कि राजस्थानी भाषाओं को दो पृथक् शाखाओं[1] में विभक्त कर दिया जाय—१ पूर्वी शाखा (पछाँही हिन्दी) और २ पश्चिमी शाखा। 'कुछ स्थूल विशिष्टताओं' के कारण जिन भाषाओं को 'एक ही सूत्र में गूँथ दिया' गया है वह ठीक नहीं है। टेसीटरी के विचारों के आधार पर वह यह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि 'सूक्ष्मतर वैयाकरण दृष्टि के कारण राजस्थान-मालवा की बोलियों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित करना बेहतर होगा।' साथ ही वह यह भय भी मानते हैं कि मेवाती, निमाड़ी और अहीरवाटी के साथ मालवी पछाँही हिन्दी से 'ज्यादातर सम्पर्कित है।' ग्रियर्सन ने निमाडी को दक्षिणी राजस्थानी माना है, किन्तु मालवी से उसका निकटतम सम्बन्ध है। इस प्रसंग में मालवी और निमाडी के विषय में थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

मालवी और निमाडी

निमाडी उज्जयिनी के दक्षिण में नर्मदा नदी के ऊपर भूतपूर्व इन्दौर राज्य के एक भाग में बोली जाती है। भौगोलिक दृष्टि से यह भाग मालवा से अनेक बातों में भिन्न है। समुद्र-तल से मालवा, जहाँ आनुपातिक तौर पर

१ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, 'राजस्थानी भाषा', पृष्ठ ६–१०।

दो हजार फीट ऊँचा है, वहाँ निमाड़ नीचा है। इसीलिए निमानी होने के कारण यह भाग निमाड़, निमावर या निमावड़ कहा जाता है। जलवायु की दृष्टि से निमाड़ मालवा की अपेक्षा उष्ण है। बाह्य रूप से संस्कृति और स्वभाव के नाते भी मालवा और निमाड़ में किंचित् भेद अवश्य है। यही भेद परिणामतः निमाड़ी में, मालवी की शाखा होकर भी, उच्चारण और दतिपय प्रयोगों में अपनी खास प्रवृत्तियों का कारण बनता है। भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों भू-भागों का अन्तर कालान्तर में 'मालवा का पाँडा ने निमाड़ का ढारा दोई बराबर' अर्थात् मालवा का पण्डित और निमाड़ का गँवार दोनों बराबर होते हैं, कहावत के रूप में प्रकट हुआ। यह प्रान्तीयता का संकेत है, जो कदाचित् राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ होगा। और कहावत में समाने के कारण अभी भी प्रचलित है।

डॉ० ग्रियर्सन ने निमाड़ी को स्पष्ट ही मालवी से सम्बन्धित बोली माना है, पर राजस्थानी की उपभाषाओं के क्षेत्र में उसे स्वीकार करना विवादास्पद होगा। निमाड़ की अन्तर्वर्ती बोलियों में सबसे अधिक बोलने वाले निमाड़ी के ही हैं। सन् १९३१ की 'होल्कर राज्य सेन्सस रिपोर्ट' के अनुसार २१७२४७ व्यक्ति निमाड़ी बोलते हैं।

जो हो, निमाड़ी और मालवी के प्रमुख भेदों को ध्यान में रखते हुए हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि दोनों के लोक-साहित्य में एक ऐसी समानता है, जो मालवी और राजस्थानी में नहीं देखी जाती। राजस्थानी की अपेक्षा निमाड़ी मालवी के अधिक निकट है। यह स्पष्ट करने के लिए दोनों के कुछ लोक गीत नीचे दिये जा रहे हैं :

"बीरा"

निमाड़ी : घोड़ा का आँगणा म[1] पिपल्‌ई[2] रे हीरा[3], चूनर लावजे
लाय तो सद म्हर[4] लावजे रे हीरा

१. में, २ पीपल वृक्ष, ३. हीरा, भाई, ४ लिए।

ने तो रहिजे अपणा देस
माड़ी जाया[1] चूनर लावजे[2]

मालवी : गुया माय की पीपल रे बीरा
जाँ चढ़ जोऊँ[3] तमारी बाट[4]
माड़ी रा जाया चूनर लाजो
चूनर लाजो तो सब सरू लाजो
नी तो रोजो तमारा देस[5]

"भात"

निमाड़ी : झीणी-झीणी रे ईरा उड़ें छ खे बादल दीसे धूँधला जे
बलदारी[6] रे ईरा बाजी छ टाल[7], गाड़ा चखैता म्हे सुण्याजे
म्हारा ईराजीरा चमक्या छ. सैल[8], भावजारा चमक्या चूड़लाजे
म्हारी बहनड़ली रा चमक्या छ चीर, भतीजारा मैमन[9] मोलियाजे[10]

"मामेरो"

मालवी . गाड़ी तो रड़की रेत में रे बीरा, उड रही गगना धूल
चालो म्हारा धोहरी[11] उतावला रे म्हारी बेन्या बई जोवे बाट
धोहरी का चमक्या सींगड़ा, म्हारा भतीजा को झगल्यो झाग
भावज बई को चमक्यो चूड़लो म्हारा बीराजी री पचरंगी पाग[12]

---

१ माँ का जाया, २ 'निमाडी-लोकगीत' रामनारायण उपाध्याय स्नेह-गीत-प्रकरण। ३ देखूँ, ४ मार्ग, ५ 'मालवी लोक-गीत', श्याम परमार पृष्ठ ८२। ६ बैल, ७ घंटी, ८. भाले, ९ पगड़ी। १० 'विशाल भारत', फरवरी, १९२९। ११ बैल। १२ 'मालवी लोक गीत', पृष्ठ ८३।

निमाड़ी में वैसे बुन्देलखण्डी की कुछ प्रवृत्तियाँ आ मिली हैं। कुछ प्रवृत्तियाँ भीली और मराठी की भी हैं। इन सभी प्रवृत्तियों की चर्चा यहाँ न करते हुए संक्षेप में निमाड़ी के कुछ मुख्य लक्षणों पर प्रकाश डालना उचित होगा।

निमाड़ी के मुख्य लक्षण

(१) 'ख' का बाहुल्य, जो कर्मकारक 'के' अथवा 'को' प्रत्ययों के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे—उनख (उनको), तमख (तुमको), म्हख (मुझको), उणख (उनके) आदि। यह बुन्देलखण्डी 'खें' का विकारी रूप है।

(२) क्रिया पदों में 'ज' अथवा 'जे' या 'च' प्रत्ययों का चलन। जैसे—लावजे (लाना), जायगज (जायगा), आवेज (आवेगा) इत्यादि। वर्तमान क्रिया 'है' के लिए गुजराती की 'छे' क्रिया का प्रयोग निमाड़ी में होता है।

(३) अधिकरण की विभक्ति 'में' के स्थान पर 'म' का सामान्य प्रयोग। जैसे—उज्जैन म (उज्जैन में), घर म (घर में) आदि।

(४) 'ना' प्रत्यय लगाकर बहु वचन बनाने की प्रवृत्ति निमाड़ी में है, जो 'होण' या 'हुण' प्रत्यय के रूप में भी व्यक्त होती है। 'ना' बहुधा प्राणियों की बोली में अधिक प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ :

	एक वचन	बहु वचन
'ना' प्रत्यय	आदमी	आदमीना
	बैरा (स्त्री)	बैराना
	छोरा (लड़का)	छोराना
'होण' प्रत्यय :	आदमी	आदमी होण (हुण)
	बैरा	बैरा होण (,,)
	छोरा	छोरा होण (,,)

मालवी में 'होण' या 'हुण' प्रत्यय का 'ण' 'न' में परिवर्तित हो जाता

है। अस्तु, सुनीति बाबू की दो शाखाओं वाली प्रतीति विश्वसनीय मानते हुए मालवी और निमाड़ी को एक ही शाखा की बोलियाँ स्वीकार करते हुए हम नीचे राजस्थानी और मालवी के गद्य और पद्य के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

अ : राजस्थानी (गद्य)

कोई माणस गा दो बेटा हा। वा माय सूँ लहोड़ी किये बाप ने क्यो क ओ बाबा घर गे धण माल मेंगा म्हारे बट आवे जको मने दे दो। जकाम बाप घरगा धण माल गा बाँटा कर दो। वाँ में बाट दयो। थोड़ा-सा दन पाछे लहोडिकियो बेटो आपगो सो धण भेलो करगे अलग मुलक में गयो ओर बटे कुमारग में सा कई खोय दियो।

मालवी (गद्य)

कोई आदमी के दो छोरा था। उनमें से छोटा छोरा ने जई के बाप के कियो के दायजी म्हारे धन को हिस्सो दई दो ओर ओने उनमें माल-ताल को बाँटो करी दियो। थोडाई दन में छोटो छोरो सब अपनो माल-मतो लई ने कोई दूसरा देस चल्यो गयो ओर वाँ आलो चेन मोज में अपनो धन उड़ई दयो।[1]

ब . राजस्थानी दूहा

जिण दिन ढोलक आवियउ, तिण अगलूणी रात।
मारू सुहिणऊ लहि कह्यउ, सखियाँ सूँ परभात॥
सुपनइ प्रीतम मुझ्झ मिल्या, हूँ लागी गळि रोइ।
डरपत पलक न खोलही, मतिहि बिछोहउ होइ॥
सुपनइ प्रीतम मुझ्झ मिल्या, हूँ गळि लग्गी धाई।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपनउ हुइ जाई॥[2]

(मारवणी का स्वप्न)

---

1 देवास, म० आ०।

2 'ढोला मारूरा दोहा' काशी ना० प्र० पत्रिका, सं० १९९१. पृष्ठ १९६।

मालवी दोहा

चंदा थारी चाँदनी, सूनी पलंग बिछाय।
जद जागी जद एकली, मरूँ कटारी खाय॥
छै छल्ला छै मूंदड़ी, छल्ला भरी परात।
एक छल्ला का वास्ते, छोड्या मायन बाप॥
टीकी दे नैना चढ़ी, बिच काजल की रेख।
मायच को मारो नहीं, लिख्या विधाता लेख॥[1]

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी और मालवी में वह नैकट्य नहीं है जो मालवी और निमाड़ी में है।

अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाएं

बोलियों के इतिहास का अध्ययन प्रमाणों के अभाव में कठिन विषय ही सिद्ध होता है। यह स्पष्ट है कि प्राचीन जनपदों की अपनी-अपनी भाषाएँ कालावधि में 'प्राकृत' अथवा 'अपभ्रंश' और देश नाम से प्रसिद्ध हुईं।[2] किन्तु इन प्राकृतों एवं अपभ्रंशों का प्रमाणों के अभाव में रूप निर्धारित करना कठिन विषय हो गया है। केवल शौरसेनी अपभ्रंश ही एक ऐसी भाषा है जिससे हम वर्तमान की बोलियों की उत्पत्ति का अनुमान करते हैं। किन्तु साहित्य की भाषा और साधारण जन की भाषा का अन्तर ध्यान में रखते हुए हमें यह स्वीकार करना होगा कि जो साहित्य उपलब्ध है वह बोली जाने वाली भाषाओं से भिन्न सुसंस्कृत वर्ग की भाषाओं का ही है। इस दृष्टि से प्राकृत की क्लिष्टावस्था के परिणाम स्वरूप अपभ्रंश का विकास हुआ और अपभ्रंश की वैयाकरणिक नियम-बद्धतावश आधुनिक प्रान्तीय

1 'मालवी लोक-गीत', पृष्ठ ६८-६९।

2 "तानपि वैयाकरण नियमानपभ्रंश भाषा नियमानुरूपत्य प्रकृति-प्रवर्तमानो विविध जनपद भाषाव्यवहारः सामान्य संज्ञया 'प्राकृत' 'अपभ्रंश' इत्युच्यमानोऽपि विशिष्टतया तत्तद्देशभाषानाम्ना प्रसिद्धिंगतः।"—ना० प्र० प०, सं० २३, पृष्ठ ७३।

भाषाओं का। असल में अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है, जो नाना कालों में नाना स्थानों में नाना रूपों में बोली जाती थी।[1] भारत अनेक भाषाओं के लिए प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। महर्षि व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' के शल्य पर्व में इसका उल्लेख आया है

"नानाधर्माभिराच्छन्न नानाभाषाश्च भारत।"[2]

अत: आज की भाषाएँ सीधे-सीधे पूर्वकालीन अपभ्रंशों की बेटियाँ ही हैं।

अवन्तिजा मालवी

'प्राकृत-चन्द्रिका' और 'कुवलयमाला' आदि में अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख देशी भाषा के नाम से हुआ है। 'कुवलयमाला' में (१० वीं शताब्दी) १८ देशी भाषाओं की चर्चा आई है। गोल्ल, मध्यदेश, मगध, कीर, टक्क, सिन्ध, मरु, गुर्जर, लाट, कर्णाटक, तमिल, कोशल, महाराष्ट्र, आन्ध्र और मालवा में अपनी-अपनी भाषाएँ बोली जाती थीं। भरतमुनि (दूसरी शताब्दी) ने 'नाट्य-शास्त्र' में संस्कृत के अतिरिक्त मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या इन सात भाषाओं[3] और शबर, अमीर, चंडाल आदि जातियों की विभाषाओं का उल्लेख किया है।[4]

अवन्तिजा अवन्ती-प्रदेश (मालवा) की भाषा रही है यह स्वीकार

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ १७।

२ शल्य पर्व, अध्याय ४६, श्लोक १०३।

३ "मागध्यावन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता.॥"
'नाट्य-शास्त्र', अ० १७, श्लोक ४८-५०।

४ "शबराभीर चंडालसचर द्रविडोद्रजा।
हीना वनचराणा च विभाषा नाटके स्मृता ॥"
'नाट्य शास्त्र', अ० १७, श्लोक ५१-५

करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यही 'भाषा' शब्द की सीमाओं के साथ अपना प्रसार करती गई। किन्तु इसका केन्द्र अवन्तिका (उज्जयिनी) ही रहा। राजकीय गौरव प्राप्त करने के फलस्वरूप नाटकों में अवन्ती-प्रवृत्ति का प्रचार भी हुआ। राजशेखर के अनुसार अवन्ती-प्रवृत्ति का प्रचार विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि जनपदों में था।[1] किन्तु अवन्ती-अपभ्रंश जन-भाषा के साथ विकसती चली। राजकीय शिथिलता ने क्रमशः इसके स्वाभाविक विकास में योग दिया। जन-वाणी के रूप में अवन्तिजा प्रवाहित होती रही। अतः आज जो मालवी मालव-प्रदेश में विद्यमान है वह इसी अवन्तिजा की वंशजा सिद्ध होती है। इसी प्रकरण में मालवों का उल्लेख आवश्यक है। मालवी को कतिपय विद्वानों ने मालवों की भाषा माना है। बताया गया है कि मालव वर्तमान मालवा में उत्तर की ओर से आए थे। इनके आगमन का समय लगभग दूसरी शताब्दी निश्चित किया जाता है। किन्तु कुछ नये प्रमाणों से मालवगणों का दूसरी शताब्दी के पूर्व मालवा में होना निश्चित होता है। यहाँ केवल यही ध्यान रखना है कि अवन्ती-प्रदेश राजकीय सीमा का द्योतक है, और मालवा उसके अन्तर्गत एक जातीय संस्कृति का भू-भाग—जनपद। अवश्य ही अवन्ती-प्रदेश की राजकीय भाषा कुछ संस्कृत रही होगी पर कि उसीके समानान्तर जन-भाषा अपने स्वाभाविक रूप में गतिशील थी। दोनों में उतना ही अन्तर होगा जितना आजकल हम लिपिबद्ध मराठी और बोल-चाल की मराठी में देखते हैं। कदाचित् इन्हीं विचारों से अभिभूत होकर राइस डेविड्स के शब्दों में श्री भगवतशरण उपाध्याय ने अवन्ती को बौद्धों का दूसरा केन्द्र स्वीकार करते हुए पालि-पिटकों को अवन्ती प्राकृत में लिखा गया घोषित किया है।[2] बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार पर अवलम्बित था, और प्रचार के लिए जन-भाषा

1. 'तत्र सोऽवन्तीन् प्रयुञ्जीत यास्त्वावन्ती वैदिशः सुराष्ट्र मालवार्बुद भृगुकच्छाद्यो जनपदाः।' 'काव्य-मीमांसा', अ० ३, पृष्ठ ८ (गा० ओ० सी०, सं० १)।
2. 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृष्ठ १०७।

का प्रयोग आवश्यक था। राजशेखर के समय लोक-भाषाओं के कवियों का सम्मान होने लगा था। उनके लिए दरबार में व्यवस्था की गई थी। इसका ब्यौरा 'काव्य-मीमासा' में विस्तार पूर्वक दिया गया है। जहाँ तक मालवी का सम्बन्ध है 'काव्य-मीमासा' द्वारा एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है। इसमे सन्देह नहीं कि अवन्तिजा मालवी की जननी है। नवीन प्रश्न भूत भाषा से सम्बन्धित है। राजशेखर ने लिखा है कि अवन्ती (मध्य मालवा), परियात्रा (पश्चिमी विन्ध्य प्रदेश) और दशपुर (उत्तर मालवा) के लोग भूत भाषा का प्रयोग करते थे :

"आवन्त्या परियात्राः सहदशपुरैर्भूतभाषा भजन्ते।"[1]

यह 'भूत भाषा' उनके अनुसार 'पैशाची' है। चार प्रकार की प्राकृतों की चर्चा में 'पैशाची' को उनका एक भेद स्वीकार किया गया है। वररुचि ने उसको प्राकृत शौरसेनी के अनुरूप बताया है, और रुद्रट ने 'काव्यालकार' में उसे एक साहित्यिक भाषा माना है। 'ऋग्वेद' में पिशाचों को अनार्य जाति का बताया गया है।[2] अतः पैशाची अनार्य भाषा होनी चाहिए। अभी तक के प्रचलित अनुमानित निष्कर्षों में प० हजारी-प्रसाद द्विवेदी का यह मत हमें समीचीन जान पड़ता है : "वह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं थी, बल्कि आर्य भाषा का आर्येतर-भाषित विकृत रूप है। ठीक वैसे ही जैसी शान्तिनिकेतन में काम करने वाले संथालों की बगला।"[3] अतएव पैशाची अथवा भूत भाषा को दक्षिण मालवा की भाषा कहना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त रुद्रट (९ वीं शताब्दी) ने अपभ्रंशों के अनेक भेदों में मालवी को एक भेद स्वीकार किया है, जिससे मालवा की अपनी स्वतन्त्र भाषा का अस्तित्व प्रकट होता है। यदि पैशाची मालवा की भाषा होती तो वह मालवी का उल्लेख क्यों करता? इतना बड़ा कालान्तर आज की मालवी और ८ वीं शताब्दी के बाद की मालवी में एक बड़ा भेद

१ 'काव्य-मीमासा', अ० १०, पृष्ठ ५१।

२ 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृष्ठ २६।

३ 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ १७।

उपस्थित करने में सहायक हुआ है। रुद्रट के समय की मालवी अपभ्रंश तो है ही, किन्तु अवन्ती अपभ्रंश और उसमें भेद न समझा जाना चाहिए। अपभ्रंश भाषा की कविताओं में असंख्य मालवी शब्द[1] अवन्ती अपभ्रंश से उसका नाता जोड़ने में पीछे नहीं हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि प्राचीन मालवी का कभी अपना साहित्य रहा होगा। नाटकों में प्रत्यक्ष रूप से आवन्तिका का प्रयोग उसके प्रभाव को सिद्ध करता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यद्यपि मालवों की मालवी का उल्लेख नहीं है, पर यह निश्चित है कि

१. देखिए—'हिन्दी-काव्य-धारा' : राहुल सांकृत्यायन, १९४५। कुछ मालवी शब्दों के प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं —

(स्वयंभू ई० ७९०) 'सयकर संदेहि पायस पाय मोही।
लद्दुव-लावण्ण-गुल इक्खु-रसेंहि।' (पृष्ठ ४८)
'उच्छुणी पडिट वइदेहि हे, पावई हरिसहो
पोट्टलउ' (पृष्ठ ६४)।

भुसुकुपा (८०० ई०) 'राअ-नावड़ी पँट कन्हैड दहिट'—
(पृष्ठ १३६)।

गोरखनाथ (८४५ ई०) 'सहजि पंलीठी भरि-भरि' राँधे'-(पृष्ठ १५८)
'जीत्या संग्राम पुरिष भया सूरा' (पृष्ठ १५८)
'मामूलो पालनड़े मरुडो हिंडोले' (पृष्ठ १६१)
'मोंगे रूपै मोकै काज' (पृष्ठ १६२)।

टेंटण (तंति) पा (८४५ ई०) 'बलद बियाअल गविआ बाँझे।
(देश-अवन्तीनगर) पिटा दुहिअइ एतिनों साँझे॥' (पृष्ठ १६४)

जिनदत्त सूरि (११८० ई०) 'जो स्वणत्य जा नच्चइ नारी'
(पृष्ठ ३४४)।
'देहा देही परिताविज्जइ' (पृष्ठ ३४५)।

—इत्यादि

आर्यों की बोली उत्तर मालवा से दक्षिण मालवा तक उस समय के लगभग प्रचलित हो गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो विदित होगा कि गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् लोक-भाषाओं ने बल पकड़ा और १४-१५ वीं शताब्दी तक आते-आते अधिकांश रूप से इन भाषाओं का रूप निर्धारित हो गया।

डॉ० चाटुर्ज्या का मत

डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने मालवी के सम्बन्ध में लिखा है: **"मालवे की बोली के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि दरअसल यह मध्यदेश की भाषा ही की एक शाखा है, पर इस पर इसकी पश्चिम की पड़ोसी मारवाड़ी-राजस्थानी का काफी प्रभाव पड़ा, जिसके कारण इसमें मध्यदेश की भाषा से लक्षणीय कुछ स्थानीयपन आ गया है।"** अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिए डॉ० चाटुर्ज्या दो भिन्न आर्य-संस्कृतियों की शाखाओं के ऐतिहासिक सत्य को भाषा-विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धान्तों सहित प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इससे विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता, किन्तु मालवी की स्वतन्त्र धारा का सिद्धान्त-सूत्र अवश्य पुष्ट हो जाता है। ६वीं शताब्दी के लगभग मालवी के स्वतन्त्र होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। मालवी उस समय लोक-व्यवहार की भाषा होकर भी शिक्षा के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हो रही थी। 'कुवलयमाला' (८वीं शताब्दी) की एक गाथा में मालवी के प्रयुक्त होने की बात बताई गई है:

"तणु-साम-मऽहदेहे कोवणए माण-जीविणो रोद्दे।
भाउअ भइणी तुम्हें' भणिरे अह मालवे दिट्ठे॥"[1]

मालवी का अन्य भाषाओं पर प्रभाव

मालवी कोमल और कर्ण-प्रिय बोली है। इसमें कई भिन्न भाषाओं

---

[1] **"तनु-श्याम लघुदेहान् कोपनान् मान जीविनो रौद्रान्।**
'भाउअ भइणी तुम्हें' भणतोऽथ मालवीयान् दृष्टवान्॥"
—'कुवलयमाला कथायाम्' (जै० भा० ता० १३१-२) गा० ओ० सी० संख्या ३७, पृष्ठ १३।

के शब्द स्वाभाविक रूप से इस तरह आ मिले हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। आवागमन, व्यापार और राजनीतिक परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण स्थल होने के कारण कई संस्कृतियों और जातियों से यहाँ के निवासियों का सम्पर्क रहा है। किन्तु मालव-दल के यत्र-तत्र जाने से मालवी का प्रभुत्व भी समय-समय पर अन्य भाषाओं पर हावी हुआ। मालवों की भाषा होने के कारण यह सदैव ही स्थानान्तर गति की कायल रही है और उसमें शब्दों के आदान-प्रदान का क्रम निश्चित रूप से बना रहा। यह बात इतिहास-सम्मत है कि मालवों ने पहाड़ी प्रान्तों में प्रवेश करके अपनी बस्तियाँ बसाईं। अतः अपनी भाषा को वे दूर-दूर तक लेते गए। आज भी पहाड़ी बोलियों और मध्य एशिया के घुमन्तुओं की बोलियों में जो मालवी शब्द मिलते हैं अथवा जयपुर के निकटवर्ती प्रदेश या मोटे रूप में राजस्थानी प्रदेश की कुछ बोलियों में उसका जो नैकट्य प्रतीत होता है, उसके मूल में यही कारण है। सैकड़ों मालवी शब्द पंजाबी, मराठी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली और गढ़वाली में भी मिलते हैं। भोजपुर परगने में नयका और पुरनका नामक दो गाँव उज्जैन और धार के परमार-वंशीय राजपूतों द्वारा ११वीं और १४वीं शताब्दी के बीच मालवा से जाकर अधिकृत किये गए थे। डॉ० ग्रियर्सन ने सन् १९२६ में पटना से प्रकाशित 'जरनल' में इस बात का उल्लेख किया है। मालवी शब्दों का भोजपुरी में पाये जाने का एक यह भी कारण हो सकता है कि इस ओर से जाकर वे लोग वहाँ बस गए थे। नेपाल के मल्ल राजाओं का प्रभुत्व मध्य-काल में रहा, जिन्होंने नाट्य-साहित्य को प्रोत्साहन दिया और गीति-नाट्य की परम्परा स्थापित की, जो नेपाल में सन् १७६८ तक मल्ल राजाओं के पराजित होने तक बनी रही। किन्तु मालवा में यह परम्परा आज भी जीवित है। गढ़वाली के लोक-गीतों में मालवी के अधिकतर शब्द भरे पड़े हैं और उनकी प्रथाएँ भी प्रायः मालवा से काफी साम्य रखती हैं। पवाड़े, मंगल-गीत, विवाह-गीत, देवी-देवताओं के गीत तथा परम्परा से प्राप्त लोक-साहित्य में मालवी शब्दों के रूप मिलना

जिमिदान, भूमिदान, सब कोई देता
को भागी देता, कन्या को दान

मालवी के उपभेद

मालवी के कुछ अपने उपभेद हैं, जिनका वर्गीकरण सुविधा के लिए करना अनिवार्य है। ऐसे भेद प्रमुख स्थानों और जातियों से जाने जाते हैं। जैसे—रतलाम क्षेत्र की 'रतलामी', उमठवाड़ (राजगढ़-नरसिंहपुर-खिलचीपुर क्षेत्र) की 'उमठवाड़ी', मन्दसौर (दशपुर) की मन्दसौरी, सोंधवाड़[1] की सोंधवाड़ी, मेवातियों की मेवाती, भोयरों की भोयरी, पटवों की पटवी,

[1] सोंधियों की जमावट के कारण ही सोंधवाड़ नाम पड़ा है। यह भाग उज्जैन जिले के उत्तर पूर्व में आगर नामक स्थान के उस ओर है। इसी जाति से सोंधवाड़ी मालवी एक भेद चला है। स्थान सूचक होने के कारण प्रस्तुत पुस्तक में यह भेद जाति-सूचक उपभेदों में नहीं रखा गया है। 'सोंधियों' को 'सोंधिया' भी कहा जाता है। सन् '३२ की जन-गणना के अनुसार इनकी संख्या दो लाख के लगभग मानी गई है। सर जॉन मालकम के समय यह जाति अत्यन्त ही लुटेरी और खूँखार थी ('No race can be more despised and dreadful than the sondhias)। किन्तु अब यह खूँखार होकर भी लुटेरी कम है। 'सोंधिया' को कुछ विद्वान् 'सन्ध्या' का अपभ्रंश मानते हैं, जिसका अर्थ हुआ 'मिश्रित'। अपने विचित्र उच्चारण में ये लोग अपने को 'सोंदिया' कहते हैं और अपनी उत्पत्ति की एक यह अद्भुत कथा कहते हैं—किसी राजकुमार का मुँह जन्म से ही शेर का-सा था। उसके माँ-बाप ने उसे जंगल में निकाल दिया और वहीं रहकर वह भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों से विवाह करके 'सोंदियों' का आदि पुरुष हुआ।—(देखिए श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' एम० ए० का लेख, 'हिन्दुस्तानी', जनवरी १९३३)।

राजपूतों की 'रागडी', आदि। भेदों की पहचान उच्चारण, विभक्ति, प्रत्यय, कारक-चिह्न, सर्वनाम, क्रियापद, विशेषण आदि के प्रयोग से हो जाती है। केवल सर्वनाम 'मैं' के लिए 'हूँ', 'म्हूँ', 'म्हू', 'म्ह' अथवा 'तू' के लिए 'थें', 'तूँ', 'तन' आदि रूप मिलते हैं। इसी प्रकार 'उनके' के लिए 'वनखे', 'विनखे', 'वणीके' 'वणके', आदि या 'तुमको' के लिए 'तमखे', 'तमख', 'तमारके', 'तमारखे', 'त्हाके' आदि अथवा क्रियापद 'कहा' के लिए 'कियो', 'कयो' आदि रूप सरलता से मिल जाते हैं। स्थानाभाव के कारण इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक यहाँ चर्चा नहीं की जा सकती।

मालवी के कुछ भेदो की प्रवृत्तियाँ

सोंधवाड़ी

१. स–कार (श–कार भी) के स्थान पर ह–कार का प्रयोग। जैसे—हमज्यो (समझा), होड़िया (सोडिया), हाथी (साथी), हक्कर (शक्कर), हाँझ (साँझ), हुपनो (सपना), हुण्यो (सुना) आदि। यह प्रवृत्ति राजस्थानी से प्रभावित गुजराती के कुछ उपभेदों में भी है। इसके अतिरिक्त सिन्धी और लहन्दी तथा पुरानी मराठी में भी यह मिलती है। डॉ० चाटुर्ज्या इसे किसी बाहरी भाषा के प्रभाव से कुछ विशेष शब्दों या प्रत्ययों में आया समझते हैं।

कभी-कभी ह–कार का लोप भी हो जाता है। पर यह बहुत कम होता है। जैसे 'हया' का 'वयो', 'ल्होरो' का 'लोरो' आदि।

२. सोंधवाडी में 'ल' का उच्चारण मराठी के 'ळ' के अनुरूप होता है।

३ मालवी के इस उपभेद में 'व' का 'व' में परिणत होना सहज है। जैसे—'वात' (बात), वाट (बाट) आदि।

४ मराठी, सिन्धी तथा लहन्दी आदि में प्रयुक्त 'ण' मूर्धन्य ध्वनि सोंधवाडी में लक्षणीय है। जैसे—समजणो (समझना), रोवणो (रोना), कणी

(कौन) आदि । शुद्ध या मध्यवर्ती मालवी में यह ध्वनि लुप्त होती जा रही है ।[1]

रांगड़ी रजवाड़ी

१. रांगड़ी में भूतकालीन क्रिया 'था' का 'थको' रूप लक्षणीय है । यथा—तू गया थको (तू गया था), कुण आयो थको (कौन आया था) इत्यादि ।

२. आदरवाचक 'जी' या 'सा' (साहब) प्रत्यय राजस्थानी से होता हुआ रांगड़ी में इसी प्रकार प्रयुक्त होता है । दोनों का संयुक्त प्रयोग भी नामोच्चारण के अभाव में होता है । जैसे—'जीसा, म्हने कद कियो ?' (जी साहब, मैंने कब कहा ?), 'म्हारा से जीसा बोल्या' (मुझसे जी साहब बोले) आदि ।

३. 'ण' और 'ळ' मूर्धन्य ध्वनियाँ रांगड़ी में विशेष प्रचलित हैं ।

उमठवाड़ी

१. 'के' कर्मकारक का चिह्न उमठवाड़ी में 'में' के स्थान पर प्रयोग में आता है । जैसे—घर के (घर में), बाड़ा के (बाड़े में) आदि ।

२. 'इधर-उधर' के लिए 'इनाँग-उनाँग' प्रयुक्त होते हैं ।

३. 'थ' और 'ध' के स्थान पर 'त' और 'द' का प्रयोग सामान्य बात है । जैसे—सात (साथ), हात (हाथ), बान्दो (बाँधा) आदि ।[2]

डोमरी

१. 'यो', 'तुम', 'उन', 'में', 'को' आदि पदों के स्थान में 'ये', 'थों', 'म्हों', 'ऐ', 'नें' आदि बोले जाते हैं ।

२. न—कार की प्रवृत्ति इसमें भी है ।

३. स्वर और व्यंजनों में प्रायः परिवर्तन होता है । जैसे—'दिल्ली',

---

१ सोंधवाड़ी बोलने वालों की संख्या लगभग दो लाख है । इन्दौर, टोंक, झालावाड़ (राजस्थान) और भोपाल में इनका प्रसार है ।

२ बोलने वालों की संख्या लगभग २० लाख है । केन्द्र नरसिंहगढ़ ।

'दिन', 'हाथ' आदि के लिए 'वणती', 'दन', 'हात' आदि ।[1]

बागडी

१. स–कार के स्थान पर ह–कार की प्रवृत्ति ।

२. प्रेरणार्थक क्रिया 'ड' के सयोग से बनती है (मारवाड़ी की भाँति)।

३ कुछ शब्दों का उच्चारण-वैशिष्ट्य भी ध्यान देने योग्य है। जैसे—'भागे-भागे' की जगह 'भाग्या-भाग्या', खूँखार की जगह 'खँखारना' आदि।

अब उपभेदों की चर्चा छोडकर समग्र रूप से मालवी की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा करना अभीष्ट होगा।

मालवी के सामान्य लक्षण

१ 'इ' उच्चारण का 'अ–कार' में परिवर्तन होना। जैसे—दन (दिन), हरण (हरिण), पडत (पडित) आदि। राजस्थानी में जहाँ 'सिरदार', 'मिनक' आदि शब्द होते हैं, वहाँ वे मालवी में 'सरदार' या 'मनक' रूप में ही प्रयुक्त होंगे।

२ 'ए' और 'ओ' ध्वनियाँ मालवी उच्चारण में 'ए' और 'ओ' हो जाती हैं। जैसे—ओर (और), चेन (चैन), जे (जय) आदि।

३ 'य' और 'व' का 'ज' और 'व' में परिवर्तित होना। यह प्रवृत्ति नागरों और औदीच्यों की मालवी में विशेष रूप से पाई जाती है।

४. शब्द विकृत करने की प्रवृत्ति भी मालवी में स्थित है। जैसे—किसन्यो (किसन), सुमन्यो (सुमन), बालूडो (बालक), भेर्‌यो (भेरू), रुपट्टी (रुपया) आदि।[2]

उज्जैनी

व्याकरण की दृष्टि से उपभेदों को हम स्थूल रूप से विभाजित करते हैं

---

१ बोलने वालों की सख्या लगभग ६ लाख है। कोटा के समीप 'डाँग' भाग में यह विशेष रूप से बोली जाती है।

२ परिशिष्ट में ऐसे विभिन्न प्रकार के मालवी उदाहरण दिये गए हैं, जिनसे मालवी की विशिष्टताओं का ज्ञान होता है।

तो हमें मध्यवर्ती मालवी से ही आरम्भ करना पड़ता है। मध्यवर्ती मालवी से तात्पर्य मालवा के केन्द्र में बोली जाने वाली मालवी है। ऐतिहासिक प्रमाणों में अधिक न उलझते हुए टकसाली या मध्यवर्ती मालवी का क्षेत्र उज्जैन जिला ही घोषित किया जाता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अंग्रेज ईसाइयों ने धर्म-प्रचारार्थ भारतीय भाषाओं और बोलियों में 'बाइबिल' के अनुवाद तैयार किये तब कलकत्ता के समीपवर्ती श्रीरामपुर केन्द्र के ईसाई विद्वान् केरी, वार्ड और मार्शमैन ने उज्जैन की समीपवर्ती मालवी को ही उपयुक्त समझा। उन्होंने उसे मालवी न कहकर 'उज्जैनी' कहा, और स्थान विशेष के नाम से ही अपनाया। अतः 'उज्जैनी' को ही मध्यवर्ती मालवी मानना उचित होगा।[1]

'बारह कोस पर बोली बदले' कहावत की सत्यता को हम मालवी पर घटित करके अच्छी तरह परख सकते हैं। सुविधानुसार मालवी के स्थान-सूचक एवं जाति सूचक उपभेद नीचे दिये जा रहे हैं—

१ स्थान-सूचक उपभेद

'उज्जैनी' (आदर्श मालवी)

---

1. टकसाली मालवी के उदाहरण परिशिष्ट में दिये जा रहे हैं।

नाम	क्षेत्र	प्रभाव
'उज्जैनी'	जिला उज्जैन	आदर्श मालवी
उत्तरी मालवी	रतलाम, जावरा, मन्दसौर कोटा के समीप डाँग प्रदेश एवं कोटा रियासत (भू० पू०)।	राजस्थानी, मारवाड़ी
दक्षिणी मालवी	नर्मदा नदी का मध्य उत्तर-प्रदेश।	निमाड़ी, मराठी
पूर्वी मालवी	नरसिंहगढ, सीहोर, दक्षिण झालावाड़ और भोपाल का पश्चिमी क्षेत्र।	बुन्देलखण्डी
पश्चिमी मालवी	जोबट, अलिराजपुर झाबुआ।	गुजराती, भीली

उपभेद	जाति	स्थान	बोलने वालों की संख्या	प्रभाव	वितरण
४ मेवाती	मेवाती	,,	पचास हजार के लगभग	विभिन्न प्रभाव	मालवा में मेवातियों के अनेक गाँव हैं।
५ पटवी	पटवा	मध्य प्रदेश का चाँदा जिला	एक हजार के लगभग	मराठी गुजराती का विकारी प्रभाव	पटवा रेशम (पाट) का काम करने वाली जाति है इन्हीं लोगों की बोली गुजराती क्षेत्र में "पटणली" या "पटवेगीरी" कही जाती है।
६. ढोल्लेवाड़ी	कुरमी	मध्य प्रदेश का बैतूल जिला तथा छिन्दवाडा	एक लाख के लगभग	उमठवाड़ी बैसवाड़ी बुन्देली	कुरमी अपने को उन्नाव जिले की ओर से आया बताते हैं।
७. भोयरी	भोयर	,,	बीस हजार के लगभग	विभिन्न प्रभाव	कहते हैं भोयर पहले मालवा में रहते थे। उनका स्थान भोज की धारा नगरी था।

मालवी का विकास

देशी भाषाओं के विकास का युग कब से आरम्भ हुआ, इसका ठीक-ठीक निर्देश करना सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि ये देशी भाषाएँ अपभ्रंश की बेटियाँ और पोतियाँ हैं। वर्तमान प्रादेशिक भाषाएँ एवं उनकी उपभाषाएँ स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नहीं हुई हैं। बीच-बीच में जो परिवर्तन का समय आया वह प्रधान रूप से राजनीतिक घटनाओं से और गौण रूप में अपने स्वाभाविक विकास से सम्बन्धित है। विक्रम की ८ वीं और ६ वीं शताब्दी से जो परिवर्तन-क्रम लागू हुआ वह विक्रम की १२ वीं और १४ वीं शताब्दी तक चलता रहा। "वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं।"[1] इस प्रवाह-परिवर्तन में भिन्न-भिन्न भाषाओं का स्वरूप स्पष्ट करना एक स्वतन्त्र विषय है। किसी भाषा में साहित्य-निर्माण आरम्भ हो जाने से वह काफी समय तक बोल-चाल की भाषा बनी रहती है। प्रसिद्ध सन्तों तथा प्रचारकों आदि के द्वारा माध्यम बनाए जाते ही उसे महत्त्व प्राप्त हो जाता है। ६ वीं शताब्दी के बाद सिद्धों ने अभिव्यक्ति के हेतु लोक-भाषाओं का सहारा लिया। रामानन्द तथा कबीर आदि कवियों ने भी उसी परम्परा को अपनाया। इस तरह प्रयुक्त भाषाओं के आधार पर १२ वीं शताब्दी तक भाषाओं का स्वतन्त्र रूप प्रकट हो गया था। राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' से भी यही सिद्ध होता है।

---

१ राहुल सांकृत्यायन 'हिन्दी-काव्य-धारा', पृष्ठ १२।

अपभ्रंश के क्षेत्र में मालवा और उसके निकटवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। उसमें कतिपय भेदों के साथ कुछ ऐसी उपभाषाएँ वर्तमान थीं, जिनका सम्बन्ध अवन्तिका की भाषा से था। इन सभी भाषाओं पर आभीरों का बहुत प्रभाव पड़ा। अध्येताओं का कथन है कि तत्कालीन अपभ्रंश के निकट आधुनिक मालवी, राजस्थानी और गुजराती हैं। एक भाषा (अपभ्रंश) का प्रमुख होने से प्रादेशिक भेदों को उठने का अवसर नहीं मिला। फिर अपभ्रंश थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ सभी की समझ में आ जाती थी। अतएव १२ वीं शताब्दी तक उसमें स्वतन्त्र साहित्य रचना होने की सम्भावना कम ही प्रतीत होती है। यदि कुछ रचनाएँ हुई भी हों तो वे कालान्तर में नष्ट हो गई होंगी।

भोज के समय (संवत् १०६७-११०९) साहित्य और कला का प्रशंसनीय विकास हुआ। स्वयं भोज ने देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन दिया। उसके समय देशी भाषा (मालव-प्रदेश की मालवी) में रचनाएँ अवश्य लिखी गई हैं। नवीनतम प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो चली है। बारहवीं शताब्दी से परमारों की शक्ति कम होने लगी और सोलंकियों का प्रभाव बढ़ने लगा तथा अनेक छोटे-छोटे राज्य मालवा में बन गए। यह समय निश्चित रूप से लोक-भाषा के व्यवहार का रहा है। उस समय ग्रन्थों का लिखा जाना सम्भव न था। मालवी का स्वरूप इस काल में बदलने लगा। अनेक उपभेदों की सृष्टि इसी समय हुई प्रतीत होती है। १७वीं शताब्दी तक परिवर्तन तेजी से हुए। उसके पश्चात् परिवर्तन की गति धीमी हो गई।

प्राचीन मालवी का साहित्य अपभ्रंश-साहित्य की गोद में सन्निहित है। इसी तरह मध्यकालीन मालवी का साहित्य राजाओं-महाराजाओं के दानपत्रों, मन्दिरों और हस्तलिखित पोथियों में दबा हुआ है। यही स्थिति पूर्वाधुनिक मालवी के साहित्य की भी है। मालवी साहित्य इस प्रकार प्रकाशन के अभाव में अनिश्चित काल से दबा पड़ा है। उज्जैन के प्राच्य-ग्रन्थ-संग्रहालय में कुछ ऐसी ही सामग्री आई है। अन्य भागों से

विलीन हुई रियासतों के कागजों में भी बहुत-कुछ उपयोगी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह ने लिखा है : "१८वीं सदी एवं उससे बाद तक किस प्रकार ब्रजभाषा (पिंगल) और यदा-कदा डिंगल (राजस्थानी) ही काव्य-भाषाएँ रहीं एवं मालवा में साहित्यिक गद्य का अभाव ही था। पत्रों एवं बोल-चाल आदि की भाषा भी स्थान एवं समाज के अनुसार बदलती थी। तत्कालीन जो भी पत्र प्राप्य हैं एवं जो भी दान-पत्र आदि सनदें मिलती हैं उनमें अवश्य मालवी का यत्र-तत्र स्वरूप देखने को मिलता है। अंग्रेज़ों के आधिपत्य के साथ ही जब जन-साधारण को कुछ शान्ति एवं सुरक्षा प्राप्त हुई तब वे पुनः मनोरंजन एव आमोद-प्रमोद की ओर ध्यान देने लगे और यों लोक-रंजन के लिए माच आदि का प्रारम्भ हुआ। मालवा के स्थानीय सन्तों की रचनाओं में मालवी का पुट होना सर्वथा स्वाभाविक है।"[1]

व्यक्तिगत रूप से कुछ महानुभावों ने ऐसी सामग्री एकत्र करने का प्रयत्न किया है जिससे मध्यकालीन एवं पूर्वाधुनिक मालवी साहित्य पर प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध एवं सम्भावित सामग्री के आधार पर मालवी साहित्य १. लिखित और २. अलिखित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

लिखित के अन्तर्गत १. वह साहित्य, जिसकी खोज होनी शेष है, २. वह साहित्य जो खोजा जा चुका है, और ३. वह जो मुद्रित है। अलिखित के अन्तर्गत मौखिक साहित्य ही होगा, जिसे हम लोक-साहित्य की संज्ञा से अभिहित करेंगे।

वर्तमान मालवी के दो स्वरूप हैं—ग्रामीण मालवी और शहरी मालवी। दोनों स्वरूपों में कोई अधिक भेद नहीं है। उच्चारण की भिन्नता एंव कतिपय शब्दों के परिष्कार से यह अन्तर सहज ही समझ में आ जाता है।

---

१. लेखक को लिखे गए एक व्यक्तिगत पत्र से उद्धृत। (२७ मई १९५२)।

विकास-क्रम की दृष्टि से मालवी का इतिहास किञ्चित् सन्दिग्ध है। किसी भी अल्पजीवी जाति के साहित्य एवं उसकी भाषा के प्रति यह सन्देह स्वाभाविक है। अतएव उक्त विवेचन के आधार पर मालवी के विकास की छः अवस्थाएँ हम निर्धारित कर सकते हैं —

:अ: प्राचीन मालवी :	१ अवन्ती प्राकृत २ अवन्ती अपभ्रंश	११वीं शताब्दी तक
:आ: मध्यकालीन मालवी :	३ पूर्व मध्यकालीन मालवी ४ उत्तर मध्यकालीन मालवी	१८वीं शताब्दी के मध्य तक
:इ: आधुनिक मालवी :	५ पूर्वाधुनिक मालवी	: १९वीं शताब्दी के मध्य तक
	६ उत्तराधुनिक मालवी	: २०वीं शताब्दी

: ३ :

'माच' (मंच)-साहित्य

'माच' मंच शब्द का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बाँधने और उस पर अभिनीत किये जाने वाले 'ख्यालों' (खेलों) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'माच' प्रायः ग्राम अथवा नगर की बस्ती के खुले स्थान में ऊँची भूमि पर अथवा तख्त बिछाकर या उन्हें बाँधकर बनाये हुए मंच पर खेले जाते हैं। इनके लिए नेपथ्य अथवा रगमचीय आडम्बरों की आवश्यकता नही होती। अभिनेता मच के निकट किसी स्थान में अपने वस्त्र बदलकर अभिनय के हेतु मच पर आ जाते हैं। स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। मच की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि दर्शकगण कहीं से भी बैठकर सम्पूर्ण गति-विधि देख सकते हैं। वस्त्राभूषण अथवा अभिनय का महत्त्व इन माचों में गौण विषय है। प्रधान वस्तु सगीत है। उसमें भी ऊँची आवाज़ में भावाभिव्यक्ति के लिए गाये जाने वाले 'बोल' अधिक महत्त्व पाते हैं। श्रोतागण 'बोलों' अथवा पात्रों के सवादों के कौशल पर 'कई की हे' (क्या कही है ?) कहकर झूम उठते हैं। 'बोल' की लयकारी के साथ ढोलक बजती है। एक विशेष आवेग के साथ ढोलकिया टेक पर थाप मारकर भावों के महत्त्वपूर्ण अशों को उत्कर्ष प्रदान करता है। गाने वाला ठीक इस समय 'ढोलक तान फड़क्के' अथवा 'ढोलक सच्ची बाजे' पदान्त में जोडकर उच्चारण करता है। अतएव लोक-गीति नाट्य[1] के

1. माचों को ग्राम-सगीत-नाट्य कहना उचित नहीं, क्योंकि जिन माचों का प्रचार मालवा में है उनका निर्माण नगर विशेष में हुआ है।

लिए जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सभी माच में निहित हैं। लोक-गीतों की हृदय-स्पर्शी शब्द-योजना, गीति-तत्त्व और नाट्य का लोक-रंजनकारी स्वरूप तीनों का समावेश इन माचों में है। मैथिल के 'कीर्तनियाँ' नाटक की तरह माचों में भी संगीत की प्रधानता है। संगीत की विशेष टेक्निक को व्यक्त करने के लिए माच में छोटी रंगत, रंगत इकहरी, रंगत दोहरी, रंगत झेला की, रंगत सिंदूरी, रंगत खड़ी या रंगत दादरा की आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार संवाद के लिए 'बोल' और उत्तर के लिए 'जुवाब' का प्रयोग माच की अनेक पोथियों में हुआ है।

माच रात्रि के मध्य में आरम्भ होकर सूर्य की प्रथम किरण के साथ समाप्त होते हैं। प्रकाश के लिए पहले मशालों अथवा कन्दीलों का प्रयोग किया जाता था, किन्तु आजकल गैसबत्ती या शहर में बिजली का प्रकाश साधारण बात हो गई है। हारमोनियम भी ढोलक का साथ देने लगा है, जिससे यह कभी-कभी सम्मन सा फूट जाना गौरव का विषय समझा जाता है।

माच के प्रवर्त्तक

बालमुकुन्द गुरु—प्रचलित माच के आदिप्रवर्तक उज्जैन निवासी श्री बालमुकुन्द गुरु थे। किंवदन्तियों के अनुसार गुरु बालमुकुन्द उज्जैन के नागरपुरे में 'ख्याल (खेल)' देखने जाया करते थे। उन दिनों नगर का आकर्षण यही ख्यालों में केन्द्रित हो रहा था। एक दिन भीड़ अधिक होने के कारण उस ख्याल के मंच के एक ओर पर जा बैठे, पर कुछ धार्मिक लोगों ने उन्हें अपमानित करके वहाँ से उठा दिया। उनको यह बात बहुत बुरी लगी। आवेश में आकर उन्होंने नगर के बड़े बाजार में बहुर भैरव की इष्ट साधना की, जिसका मन्त्र उन्होंने तुरगान नामक यति से प्राप्त किया था। साधना से प्रसन्न होकर भैरव ने दर्शन दिये। उन्होंने गुरु और माच के गान का वरदान माँगा। 'सरमन फिर दे आई' (सरस्वती हृदय में आई) और गुरुजी ने माच रचना आरम्भ किया। इस किंवदन्ती से यह प्रकट है कि बालमुकुन्द गुरु के पूर्व उनके [illegible] रूप से मालवा में लोक रञ्जन

मौजूद था, जिससे प्रेरणा प्राप्त करके गुरु की प्रतिभा ने नया स्वरूप प्रकाशित किया। मुसलमानी शासन के पूर्व ऐसे मंचों से सम्बन्धित किसी सूत्रबद्ध सामग्री के अभाववश इस विषय में प्रकाश डालना-मात्र अनुमानगम्य है।

१६वीं शताब्दी के द्वितीय-तृतीय चरण हिन्दी के रीतिकालीन पतनोन्मुखी समय के सूचक हैं। राज-दरबारों की विलासिता भक्ति पर हावी होकर अपने विशुद्ध श्रृङ्गारी रूप में व्यक्त हो रही थी। लोगों में राजनीतिक और सामाजिक चेतना का उत्स रुका हुआ था। आर्थिक कठिनाइयाँ नहीं थीं, यद्यपि यन्त्रों का प्रभाव आरम्भ हो गया था। लोग खाते-पीते थे। वैचारिक सघर्ष के अभाव में वे खाने-कमाने, मौज करने और जीवन के अन्तिम काल में थोडा-बहुत भगवत्-चिन्तन कर लेने में ही जीवन की इतिश्री समझते थे। मालवा प्रारम्भ से ही उपजाऊ रहा है, अतः यहाँ की भूमि से जाग्रति और भी दूर थी। इसी समय मालवी के माध्यम से मालवी जनता के मनोरजन के लिए बालमुकुन्द गुरु ने माच का प्रवर्तन किया। धर्मक्षेत्र उज्जयिनी में जिन कथाओं और पौराणिक गाथाओं का प्रचलन था उन्हें गुरु ने अपना लिया। भक्ति, वैराग्य, वेदान्त, श्रृङ्गार और पौरुषेय भावनाओं का लोक ग्राही स्वरूप उनकी रचनाओं में व्यक्त हुआ। प्रारम्भ में जिन पाँच खेलों को उन्होंने लिखा, सबमें उन्होंने 'निगुंणी' कथी है अर्थात् उनकी पृष्ठभूमि निगुंणी कथावस्तु से सम्बन्धित है।

रचनाएँ—गुरु बालमुकुन्द ने कुल १६ माचों की रचना की है, जो क्रमशः खेले जाते रहे हैं। स्वय गुरु जी प्रत्येक माच में मुख्य पात्र का अभिनय करते थे और गोविन्दा ढोलकिया उनका साथ देता था। उनकी सब रचनाओं की मूल प्रतियाँ गुरु जी की वर्तमान चौथी पीढी के पास आज भी सुरक्षित हैं, जिनसे रचनाओं का काल और कतिपय अन्य बातें ज्ञात होती हैं। वर्तमान पीढी, जो उज्जैन ही में गुरु जी के उसी मकान में (जैसिंहपुरा) रहती है, उनके माचों को प्रतिवर्ष अभिनीत करके लोक-नाट्य की परम्परा को थामे हुए है।

छापेखानों के खुलते ही गुरुजी के माचों की मुद्रित प्रतियाँ बाजार में

१३. चारण बजारा (अप्रकाशित), १४. हीर राँझा (अप्रकाशित), १५. शिव लीला (अप्रकाशित), १६ वेताल पच्चीसी (अप्रकाशित)।

गुरु बालमुकुन्द जी ने सभी माच के खेलों को अपने ही मोहल्ले, जैसिंहपुरा में समय-समय पर खेला। जैसिंहपुरा के माच का स्थान भेरू के मन्दिर के सामने है, जिसकी स्वयं गुरु ने स्थापना की थी। इसका उल्लेख प्रत्येक माच के प्रारम्भ में दी गई 'भेरू जी की स्तुति'[1] में किया गया है। जैसिंहपुरा माचों के कारण गुरु जी के समय एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। यद्यपि जयसिंह द्वारा बसाये जाने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से उस स्थान का महत्त्व अब भी कम नहीं है। माच के आकर्षण से दर्शकों की बडी भीड वहाँ खिंची चली आती थी। अपने एक पात्र द्वारा स्वय गुरुजी ने इस बात का उल्लेख किया है:

"भोपाल सेर से चलकर आयो, उज्जन सेर देखूँगा बस्ती।
जैसिंहपुरा में माँच बन्यो है, मुलकों की आलम वाँ ठसती॥"[2]

गुरु बालमुकुन्द के जीवन-काल में माच का प्रचार दूर-दूर तक हो गया था। उनकी मूल प्रतियों से नकल उतारकर उन्हींके शिष्य गाँव-गाँव में फैल गए। अत्युक्ति न समझी जाय तो यह परम्परा पजाब और हाथरस तक मे पहुँची। गुरुजी के समकालीन सिंधिया-नरेश ने तो उन्हें निमन्त्रित करके ग्वालियर में माच करवाये थे और निकटवर्ती होल्कर-नरेश ने माचों से प्रभावित होकर गुरु जी को बहुत-सी जमीन दान में दी थी।

गुरु बालमुकुन्द की मृत्यु सम्वत् १६३२ में रविवार के दिन हुई। कहते हैं उस समय वे 'गेंदापरी' माच का अभिनय कर रहे थे। अन्ध-

---

१ रंगीला हे भेरव का ध्यान, सारदा दो हिरदा में ग्यान ॥टेक॥
बिसाल रूप छोटी-सी मूरत, करो दुस्मन की हान।
जेसिंगपुरा में राज तुमारा और चारी खूँट में मान॥
कालो गोरो मालक मेरो, खेल रच्या चोगान।
साँचे को सन्मान जो देवे, मार दुष्ट कू थान ॥टेक॥

२ 'हरिश्चन्द्र', पृष्ठ ४।

लिखी गई प्रतीत होती हैं। कहते हैं उस्ताद को कुछ और भी रचनाएँ हैं, जो अछूगे हैं। कालूराम जी के माचों के प्रचार का कारण यह भी था कि उन्होंने प्रथम बार बाबाजन[1] नामक एक सुन्दर गायिका को मच पर उतारा। बाबाजन अपनी सुस्पष्ट ऊँची और मधुर आवाज के लिए प्रख्यात रही है। इस प्रकार कालूराम उस्ताद ने बालमुकुन्द गुरु की उस परम्परा को, जो स्त्री-पात्र को मच के लिए वर्ज्य समझती,थी, तोड़कर नया आकर्षण आयोजित करने में सफलता प्राप्त की।

कालूराम उस्ताद के और बालमुकुन्द गुरु के अधिकाश माचों की कथा-वस्तु में विशेष भेद नहीं है। गुरु की अपेक्षा उस्ताद की रचनाएँ शृङ्गारी अधिक हैं। गुरु और उस्ताद में जो भेद है वही भेद रचनाओं की प्रवृत्तियों में लक्षित होता है।

कालूराम उस्ताद और बालमुकुन्द गुरु के दोनों अखाड़े आज तक ग्रामीण जनता और नगर के लोगों के लिए मनोरजन के विषय बने हुए हैं। दोनों के बीच स्पर्धा-सम्बन्धी अनेक कथाएँ लोगों मे प्रचलित हैं। यह स्पर्धा यहाँ तक बढी कि एक-दूसरे के मच से खेलों के बीच-बीच में पद्यबद्ध फब्तियाँ कसी जाने लगीं। यथा :

कालूराम का काला मूँडा, गन्दे नाले न्हावे।
बालमुकुन्द की होड़ करे तो नरक कुण्ड में जावे॥

इतना ही नहीं उस्ताद के क्षेत्र के कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्ति भी इस चपेट से बचे नहीं .

दौलतगज का कहूँ हकीकत (अमुक) खत्री वाला।
धाप करे गल्ले का सौदा, बेने करे छीनाला॥

[1] बाबाजन का ८४ वर्ष की अवस्था में सन् १९४८ की १५ जनवरी को देहावसान हुआ। दिल्ली की एक रेकार्ड-कम्पनी ने उसके चार रेकार्ड तैयार किये थे, जो कालूराम जी के पुत्र शालिग्रामजी के पास हैं। बाबाजन मर्दाने वस्त्र धारण करती थी और सिर पर साफा बाँधती थी।

कहीं-कहीं तो लोक-गीतों की पक्तियाँ ज्यों-की-त्यों अपना ली गई हैं।

माच खुले रगमच का ही स्वरूप है। रामलीला, नौटकी, ख्याल, यात्रा, भवाई, कीर्तनिया आदि विभिन्न लोक-नाट्य-शैलियों में माच का भी अपना विशिष्ट स्थान है। इसमें नेपथ्य आदि के बिना सभी प्रकार के दृश्यों का आयोजन लोक-कल्पना के विषय हैं। अभिनेता ढोलक और अपनी ऊँची आवाज के सहारे मच पर अपनी कला का कौशल दिखाते हैं। माच की कथा का सूत्र भंग न हो इसके लिए गद्य का प्रयोग कम-से-कम किया जाता है। सगीत सूत्र को सँभाले रहता है। इसलिए ढोलक का अस्तित्व माच का प्राण है।

माच के विषय में श्री त्रिभुवननाथ दवे वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन कर रहे हैं।

सन्त-साहित्य

मालवी का सन्त-साहित्य धार्मिक आन्दोलनों से प्रभावित रहा है। किन्तु ऐसा कितना ही साहित्य लुप्त हो चुका है, और जो है उसका यथोचित उद्धार किया जाना शेष है। पोथियों के रूप में सुरक्षित सामग्री घरों, मन्दिरों और मठों में दबी पड़ी है। अतः किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व हमें उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही स्थूल रूप से विचार करना होगा।

मालवी का सन्त-साहित्य 'पन्थी' है, उस पर विभिन्न धार्मिक मत-मतान्तरों की छाया और उनसे उत्पन्न पन्थों की छाप है। जो साहित्य लिपिबद्ध है—आंशिक रूप से लिखित और आंशिक रूप से मुद्रित है—उसकी संगत तो बैठ जाती है, पर अलिखित—मौखिक—भजनी साहित्य का वर्गीकरण किंचित् क्लिष्ट विषय है। जिस साहित्य का उल्लेख आगे किया जा रहा है वह गेय है। अतः पद्य का अंग ही मालवी में सन्त-साहित्य की दृष्टि से अभी तक ज्ञात हुआ है। सन्त-साहित्य की प्राप्य सामग्री का वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है :
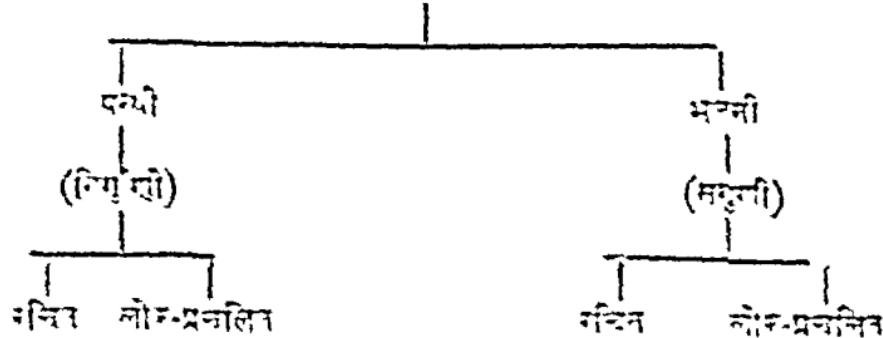
अजी एजी, जरा अब आखियाँ तो खोलो ॥
कर प्रीतम घर की सुर्त शब्द कुछ मुख सेती बोलो ॥[1]

'अजी एजी' का प्रयोग गुप्तानन्द जी के लिए स्वाभाविक हो गया है। उनके कुछ पदों में मालवी का प्रयत्न गत स्वरूप देखिए :

बँगला खूब समारया है, चतुर कारीगर करतारा ॥ टेक ॥
पाँच रंग की ईंट लगी है, सात धातु का गारा।
बिन औजार साल सब फोड़े, नखसिख लाग्या प्यारा ॥१॥
निज माया का कोट रच्या है, नाना रंग अपारा।
घाट वाट चौगट्टे गलियाँ, बिच में लगे बजारा ॥२॥
इस बँगले में बाग लग्या है, मन माली रखबारा।
साढ़े तीन करोड़ वृक्ष हैं, खिल रही अजब बहारा ॥३॥
किरोड़ बहत्तर नदियाँ बहतीं, छूटी रही जल-धारा।
अन्त करण अगाध सरोवर, वृत्ती छुटै फुहारा ॥४॥
इस बँगले में रास रच्या है, नाना राग उचारा।
अनहद शब्द होत दिन राती, सोहम् सोहम् सारा ॥५॥
इस बँगले में बाजे बाजै उठ रही झंकारा।
ढोलक झाँझ बजे हरिमुनिया, खिच रही स्वास सितारा ॥६॥
बाजे तीन बजाय रहे हैं, स्वर अरु ताल निकारा।
पाँच पचीसों पातर नाचे, देखत देखन हारा ॥७॥
तीन लोक बँगले के अन्दर, नाना जगत अपारा।
गुप्त रूप से आप बिराजे, सबका जानन हारा ॥८॥[2]

भजन

जिन जान्या अपने आपको, सो निर्भय होके सोवे ॥टेक॥
हिरदे की ग्रंथी जिन तोडी, संसों की सब मटुकी फोड़ी।

१ 'गुप्तज्ञान गुटका', पृष्ठ १८०।
२ वही, पृष्ठ २२४।

विधि निषेध की हदि गई तोड़ी, फिर जपै कौन के जाप को॥
परमन में कैसे रोवे··· ॥१॥ इत्यादि।[1]

केशवानन्द जी महाराज—गुमानन्द जी के शिष्य केशवानन्द जी की रचनाएँ 'तत्त्वज्ञान गुटका' में संग्रहीत हैं, जिसका प्रकाशन प्रथम बार भुवनेश्वरी प्रेस रतलाम से सं० १९८२ में हुआ। यह ग्रन्थ आत्म-ज्ञान-सम्बन्धी १३४ निर्गुणी गेय पदों का संकलन है। अपने गुरु की भाँति आपने भी राग-रागनियों में अपने भाव निबद्ध किये हैं। आपके विशेष प्रिय छन्द गज़ल एवं कव्वाली हैं; पर कुण्डलियाँ, दोहे, कवित्त एवं लोक छन्द माढ, लावनी आदि का प्रयोग भी आपने किया है।

'तत्त्वज्ञान गुटका' की भाषा उत्तरी मालवी है, क्योंकि रचयिता का कार्य-क्षेत्र प्रायः मन्दसौर और प्रतापगढ़ की ओर ही रहा। एक पद देखिए :

जोगिया

राम नाम कह मैना, तू तो लग गुरु मुख की सेना ॥टेक॥
माया पारधी फंद लगायो, लालच फल धरेना।
लालच के वश तू जाइ बैठा, फँस गये दोऊ डैना ॥१॥
फँदे फँदे में मैना बोले, अब गुरु मोहि छुड़ैना।
अब की बेर छुड़ा मोहि देना, मानूँगी आप कहैना ॥२॥
रामनाम से फंद छुड़ाये, ज्ञान विराग दोऊ डैना।
इसी फंद से शरण में आई, गुरुजी के चरण गहैना ॥३॥
निरभय होके महल पिछाना, मिटि गये काल के ताना।
केशवानन्द आनन्द कन्द मिल जग में रावना रहैना ॥४॥[2]

नित्यानन्द जी महाराज—नित्यानन्द जी-कृत 'नित्यानन्द विलास' की प्रथमावृत्ति रतलाम ही से प्रकाशित हुई थी। तृतीय आवृत्ति सम्वत् १९९४ में छपी। नित्यानन्द की रचनाओं को संग्रहीत करने का श्रेय

---

१. 'गुमानज्ञान गुटका', पृष्ठ २२७।
२ 'तत्त्वज्ञान गुटका', पृष्ठ ४८३।

स्व० कन्हैयालाल जी उपाध्याय (रतलाम) को है। नित्यानन्द जी के पदों का प्रचार मालवा के बाहर गुजरात में भी है। तृतीयावृत्ति में 'नित्यानन्द विलास' के साथ कुछ छोटे-मोटे ग्रन्थ भी जोड़ दिए गए हैं, जिनमें 'गुरु गीता', 'प्रश्नोत्तरी', 'जननी सुत उपदेश', 'बाप जी का उपदेश', 'श्रीराम विनोद', 'वार्ता प्रसग' आदि हैं। महत्त्व का अश (मालवी की दृष्टि से) 'नित्यानन्द विलास' ही है। इसमें राग-रागनियों मे गुम्फित वेदान्ती पदों का सग्रह कर दिया गया है। यद्यपि अनेक पद सधुक्कडी मालवी में हैं, पर कुछ खड़ी बोली, उर्दू और ब्रज-मिश्रित में भी हैं। मालवी पदों में गुजराती और राजस्थानी का प्रभाव है। तत्त्व-ज्ञान, वेदान्त और निर्गुणी कथी का प्रभाव सभी पदों मे है। नित्यानन्द के समक्ष सन्त साहित्य का अपार भण्डार था, किन्तु विशेष रूप से उन पर निर्गुणी धारा का प्रभाव रहा। मालवी के कुछ पदों की बानगी लीजिए .

राग सोरठ मल्हार

मन रहारो, कोई नहीं हितकारी।
तू नित बंद करे बंडाई, होय दुर्गति रहारी ॥टेक॥
देख खोल चखू तूँ दोनूँ, कौन वस्तु है रहारी।
सबहि विभूति है श्रीहरि की तूँ कहे म्हारी-म्हारी ॥[1]

राग दादरा

पंखा लेके गुरु जी में तो हाजर खड़ी ॥टेक॥
लाख चौरासी ढूँढ थको गुरु, अब चरनन में आय पड़ी।
देख दया की अबे दृष्टि से, सुमर रही में तो घड़ी जी घड़ी।
अब हटने की नहिं ठोदि से, निर्भय होके में तो आय अड़ी।
हर गुरु दुख सकल तन-मन को, नित्यानन्द निज देदोजी जड़ी ॥[2]

---

१ 'नित्यानन्द विलास', पृष्ठ १०१।

२ वही, पृष्ठ ११६।

लोक-प्रचलित निर्गुणी साहित्य खोज का विषय है। कबीर एवं लोक-प्रचलित ऐसे साहित्य के अन्योन्याश्रित प्रभाव का उल्लेख परिशिष्ट में किया गया है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : "कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, पर परम्परा अभी बची हुई है। नाथ मार्ग के बारह पन्थों में से प्रायः सभी जीवित हैं; पर जहाँ तक मालूम है एक-दो को छोड़कर बाकी का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गृहस्थों में अपने प्रतिष्ठाता के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ बची हुई हैं। किसी-किसी के स्थापित मठ और मन्दिर वर्तमान हैं, उनमें कुछ विशेष ढंग के अनुष्ठान होते हैं। इन लोक-कथाओं और अनुष्ठानों के भीतर से इन सम्प्रदायों की विशेषता का कुछ-कुछ पता चलता है—"[1]

"दक्षिण भारत की लोक-भाषा में लिखे हुए भक्ति-मूलक ग्रन्थ आगे चलकर जबरदस्त दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण हुए हैं। इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि अन्यान्य धर्म सम्प्रदायों और साधन मार्गों के विकास में लोक भाषा का भी हाथ रहा होगा।"[2]

उक्त दृष्टि से हम देखें तो निश्चय ही लोक-प्रचलित साहित्य में कितने ही लुप्त सम्प्रदायों की कड़ियाँ जुड़ सकती हैं। कबीर के पश्चात् कबीर के नाम से अनेक पन्थ चले, जिनका पता 'कबीरा' लोक-गीतों से मिलता है। 'नामदेव' के गीत नामदेव की अनुश्रुति के अंग हैं। जो नामदेव के इतिहास-परक रूप को प्रकाश में लाने के लिए आमन्त्रित करते हैं। [illegible] हरजी, [illegible] आदि नामदेव के परम भक्त मालवा में हो गए हैं, जो कबीर की भाँति निम्न वर्ग से आये। यों निर्गुणी साहित्य के अधिकांश संत निम्न जाति के ही हुए हैं, जिनमें [illegible], चमार, नाई आदि प्रमुख हैं। डॉ० [illegible] ने

1 'मध्यकालीन धर्म साधना', धर्म साधना का साहित्य, पृष्ठ १३।
2 वही, [illegible], पृष्ठ १८।

अन्त्यजों को जन्म दिया। यदि विकारी बौद्ध-धर्म से निर्गुणी धारा का हम सम्बन्ध जोडते हैं तो हमारे लिए निम्न जातियों के कण्ठों पर अवस्थित यह निर्गुणी साहित्य उपादेय होगा।

चन्द्रसखी—चन्द्रसखी मध्य भारत के मालवी और राजस्थानी भाषा-भाषी-क्षेत्र की लोक-गायिका अथवा कृष्णाश्रयी शाखा की लोक-भजनकार है। गाँवों में जिसके गीतों को 'भजन' सज्ञा प्राप्त है, उन्हें ही नगरों में 'पद' कहा जाता है। चन्द्रसखी की छाप वाले सैकडों ही गीत नगर और ग्राम की स्त्रियों को समान रूप से कण्ठस्थ हैं। इतना ही नहीं चन्द्रसखी के गीत अथवा भजन विभिन्न राग-रागनियों में आबद्ध होकर वर्षों से संगीतज्ञों के कण्ठों पर परम्परा से अवस्थित हैं। इससे उक्त गायिका की लोकप्रियता ही प्रमाणित होती है।

चन्द्रसखी-सम्बन्धी एक विवाद इन दिनों उपस्थित हुआ है। राजस्थान के विद्वान् अन्वेषक श्री मोतीलाल मेनारिया उसे मालवी की कवयित्री घोषित करते हैं जब कि श्री अगरचन्द नाहटा यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। भाषा की दृष्टि से वर्णों की कोमला वृत्ति और मालवी का सारल्य, शैली आदि इस बात को पुष्ट करते हैं कि चन्द्रसखी अधिक अंशों में मालव-प्रदेश की ही गायिका अथवा भजनकार है। राजस्थान के सीमावर्ती भागों में उसके भजनों के प्रचलन से यह समझ लेना उचित न होगा कि वह मूलतः राजस्थानी है। लोक-गायकों अथवा गायिकाओं या भजनकारों के लिए प्रान्तों की सीमाएँ प्राय. टूट जाती हैं, फिर कण्ठों पर अवस्थित गीत-सगीत-सम्बन्धी सम्पत्ति सीमा के बन्धन स्वभावत. स्वीकार ही नहीं करती। हृदयस्थ भावों की सामान्य प्रवृत्ति इस प्रभाव में योग देती है। अल्प प्रमाणों के होते हुए भी हमें यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कदाचित् चन्द्रसखी राजस्थान और मालवा के सन्धि-क्षेत्र के निकटवर्ती किसी स्थान की निवासिनी हो। उसके एक गीत में मालवा को छोडकर गोकुल जाने का भी उल्लेख आता है :

"छोड़ मालवो चन्द्रसखी
चल गोकुल जमना तीर।
कृष्ण चन्द्र की मुरली सुण
जाँ घटे मन की पीर।"

मालवा में दीपावली के दूसरे दिन गोवर्धन पूजा के अवसर पर 'चन्द्रावल' गाई जाती है, जिसमें कृष्ण-प्रेम का उल्लेख है। 'चन्द्रावली' वैसे कृष्ण की एक प्रेमिका के नाते लोक-वार्ता का एक सहज विषय है। सम्भवतः कृष्ण के प्रति सखी भाव को व्यक्त करने अथवा सखी रूप में नैकट्य की कामना से किसी भक्त कवि द्वारा स्वीकृत यह 'चन्द्रसखी' उपनाम हो। अपने उपास्य के निकट प्रियतमा के रूप में जाने का आत्मसुख प्रायः भक्त कवि प्राप्त करते रहे हैं। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि चन्द्रसखी भक्त कवि का नाम है अथवा किसी स्त्री भक्त गायिका का। प्रचलित मान्यता के अनुसार उसे हम स्त्री भक्त ही मानेंगे। जहाँ तक उसके स्थान का प्रश्न है उसे हम मालवा के उत्तरी क्षेत्र में कहीं होना सम्भावित समझते हैं।

आज भी उत्तरी मालवा में उसके गीत अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। उत्तरापथ के खानदानी गवैयों में भी चन्द्रसखी के गीत प्रचलित हैं, जिससे हमारा विश्वास पुष्ट होता है। भाषा की दृष्टि से एवं उसके गीतों की प्रवृत्तियों से उक्त विश्वास को सहज ही सम्बल प्राप्त है। यद्यपि अभी तक चन्द्रसखी के गीतों की कोई प्राचीन प्रति प्राप्त नहीं हुई, तथापि लोक-प्रचलित गीतों में (कतिपय राजस्थानी प्रयोगों के होते हुए भी) यह प्रमाणित है कि चन्द्रसखी ने अपने पदों की रचना मालवी में ही की थी।

'मारवाड़ी भजन सागर'[1] में चन्द्रसखी के ५४ पद प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त नरोत्तमदास स्वामी तथा मनोहर शर्मा द्वारा सङ्कलित पदों को मिलाकर श्री नाहटा जी के अनुसार 'चन्द्रसखी' के सौ से अधिक भजन प्रकाशित हो चुके हैं। मालवा में श्री चिन्तामणि उपाध्याय ने लगभग

१ राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता, १९५०

बालापण में गउवा चराई,
तिन देसे चाला बसिया।
मुरली म्हारी सदा ही सुहावे,
मृगनैणी नाचे रसिया ॥३॥
मटकी फोड़ी दही म्हारो ढारयो,
बाह पकड़ मैली बसिया—!
चन्द्रसखी अब आप मिल्या है,
कृष्णमुरारी म्हारे मन बसिया ॥४॥

ठाकुर रामसिंह द्वारा सम्पादित संग्रह में भी यह पद है। इसे अनेक गायकों द्वारा गाते हुए सुना है।

वंशी चुराना, वंशी की धुन पर अभिसार के लिए प्रस्तुत होना, मटकी फोडना, गोपियों की छेड-छाड़, उलाहने, शिकायत आदि के प्रकरण भी चन्द्रसखी ने अपनाये हैं। मीरा की भाँति चन्द्रसखी अपने उपास्य के चरण-कमल पर बार-बार बलिहारी होती है :

मदन मोहन म्हारी विनती सुनो
करुणा सिन्धु है, जगत् बन्धु,
सतन हितकारी
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे,
कुण्डल की छब न्यारी
यमुना तीर धेनु चरावे,
ओढ़े कामरी कारी,
बृन्दावन की कुन्ज गलिन में
निरत करे गिरधारी
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छवि,
चरण कमल बलिहारी।

युवावस्था के संयोग-वियोग तथा रुदन-हास्य आदि प्रसंगों के सभी गीतों में 'भज बालकृष्ण छवि' की टेक सानुकूलता के विपरीत है। लोक-

मुँह न दिखाने की आज्ञा दी। कदाचित् उनके विरक्त होने का यही कारण है।[1]

इसी प्रकार औलिया पीर और महाकवि तुलसीदास से सिंगाजी की ग्राम पीपल्या में महेश्वर तहसील में भेंट होने की किंवदती भी प्रचलित है। तुलसीदास उत्तर की ओर से आये थे और औलिया पीर खानदेश से। औलिया ने सूखी भूमि पर नदी की धारा बहा दी और सिंगाजी ने कुँवारी केडी का दूध निकाला। किंवदती से यह आधार अवश्य मिल जाता है कि सिंगाजी तुलसीदास के समकालीन होंगे। उनके सम्बन्ध में दलू भगत की छाप वाले एक प्रचलित गीत में कुछ विलक्षण कार्यों का उल्लेख मिलता है। दलाजी चमत्कारी पुरुष थे। वे मण्डलेश्वर के निकट लेपा ग्राम मे रहा करते थे। उनका गीत है :

> अजमत मारी कई कूँ सिंगाजी तमारी
> फाबुआ देस वाँ बहादरसिंग राजा
> अरे वाँ गई याजू के फेरी
> फाफवान ने तम ख सुमरया
> अरे वाँ डूधी फाफ डवारी
> नदी सिपराड बहे जल गंगा
> अरे वाँ मिन रुत देखी कयारी
> सदासिव पय पान मँगत है
> अरे वाँ दुई भोट कुँवारी
> दला भगत चरणों का सेवक
> अरे वाँ जन की फोजा घेरी
> अजमत .....

इस प्रकार के अनेक गीत निमाड़ में प्रचलित हैं। गीतों के द्वारा ही इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि सिंगाजी कौन थे।

से सहज ही ज्ञात होता है कि सिगाजी का कवि कबीर की भाँति फक्कड और खरा है। वह राम और कृष्ण दोनों का उपासक है। वह जीवन के अनुभवों को निर्गुणी धारा में सहज ही मोड़कर बहुत ही बडी बात कह जाता है। निमाडी साहित्य के अध्येता श्री रामनारायण उपाध्याय ने सिंगाजी की कुछ पद-पक्तियों को प्रकाशित किया है। उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:

पाणी पवन से पातला, जैसा सुर्या में घाम।
ज्यों हो शशि का चाँदणा, ऐसा मेरा राम॥

अगला होयगा आग का पूला,
अपुण न होणु पाणी रे।
जाण का आग अजाण हुई न,
तत्त्व एक लेणु छाणी रे॥

जीवन है सासरिया मेरा, मरण है पियरिया रे।

निश्चय ही सिंगाजी की रचनाओ पर सिद्धो की उस परम्परा की छाप है, जो कबीर और उनकी परम्परा मे आने वाले अनेक कवियों की रचनाओं में मिलती है।

अन्त में सिंगाजी का एक गीत प्रस्तुत किया जा रहा है :

ऐसा नर कू सेवना जिन जग कू जिलाया रे
बाबा भोपा सब कहे जिन ठग खायी दुनिया रे
जिन घर का सब मरी गया वाकू क्यों न जिलाया रे
ऐसे नर कू सेवणा
बरत करे तो भए आत्मा कलपाये
फिरता-हिरता मरी गया वा नर वैकुण्ठ जावे
ऐसे नर कूँ सेवणा
तिरथ करे तो क्या भए असनान करावे
जे नर जल कू सेवता वा मगर कहावे
ऐसे नर कूँ सेवणा

से कुछ सामग्री प्रकाश में आई है। श्रीगणेश के प्रति लिखी गई उनकी एक स्तुति है:

'मैं प्रथम नमूँ गणपति गजानन्द
रिद्-सिद के मालक तुम होजो विघन भंजक ॥ टेक ॥
प्रथम सुमरू मजलस म्याने। देना ग्यान घन-विघन-हरन ॥
मालक में प्रथम करूँ ध्यान। मैं अरजदार नोकर तेरा रखो पेचान।
चार वेद के सास्तर गावे अठारह पुराण ॥
धन बक तुण्ड एक दंते मजलस में अरज करे संते।
सर छत्र पुष्प सोभते ॥
कहे विप्र बलदेव गजानन सर्व प्रथम पूजन्ते ॥ इत्यादि ॥

पता चला है कि आगर के महन्त हरिदास ने उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में मालवी भाषा की कुछ पुस्तकें लिखी थीं, जो अब अप्राप्य हैं। आगर के समीप कानड ग्राम के पटवारी श्री मूलचन्द जी (उपनाम 'लखनतनय'), जो आजकल काफी वृद्ध एव नेत्र-विहीन हो गए हैं। अपनी युवावस्था में नित्य-प्रति पाँच भजन बनाकर गाया करते थे। ऐसे भजनों की सख्या काफी है। आपके भजनों में खडी बोली का प्रभाव मालवी रगत के साथ निखरा है :

थारी काया सोना ही अँगूठी बनी,
जीमे पाँचों ही तत्व नगीना जड़्या ॥ टेक ॥
तुझे काँटे चोरासी में तोल कियो
गरभवास कसोटि दिया रगड़ा
विधना सो सुनारन सोदो कियो
मुई किस्मत रूप मनुष्य बड़ा ॥
हरिभक्त को पानी अखट रहे
जग प्रेम प्रेम का तेज बड़ा।
जोहरी ने परख सद्गुरू मे हुई,
परमेश्वर को चित्त जाय अड़ा ॥

लोक-साहित्य

मालव-प्रदेश के नैसर्गिक वैभव की भाँति उसका लोक-साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध और हृदयग्राही है। लोगों की उदार मनोवृत्ति और उसके नैतिक आदर्शों की छाप गीतों, कथाओं और वार्ताओं में विद्यमान है। मालवा भारत का मध्यवर्ती भू-भाग है। जन-मानस की आन्दोलित लहरें समय-समय पर उसे छूकर अपने साथ लाई हुई भावनाओं का प्रभाव छोड़-कर बदले में कुछ लेती गई। भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित कथाओं तथा गीतों आदि में जब मालवी गीतों अथवा कहानियों के लक्षण एव स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं तो उतना आश्चर्य नहीं होता जितना भारत के निकट-वर्ती देशों की कहानियों में उन्हें पाकर होता है। विद्वानों ने स्वीकार किया है कि भारतवर्ष की अनेक कथाओं का प्रभाव एशियायी कथा-साहित्य पर है। 'कथा सरित्सागर' की अधिकाश कहानियों का इसके प्रति उल्लेख किया जाता है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि उसकी लगभग तीन-चौथाई कथाओं का क्षेत्र भारत का मध्य भाग ही है। उनमें वर्णित उज्जयिनी के निकटवर्ती प्रसग मालवी लोक-साहित्य के काल-निर्णय में सहायक होते हैं।

वर्गीकरण

मालवी लोक-साहित्य स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त है—

१ गीत-साहित्य (पद्य) और २ अगीत-साहित्य (गद्य)। गीत-साहित्य मालवी की सजीव एव परम्परागत निधि है। सक्षेप में इसका

बौद्ध-विरोधी नहीं रहने दिया। केन्द्रीय भू-भाग के कारण मालवा विभिन्न धार्मिक और राजनीतिक प्रभावों से वंचित नहीं रह पाया। अतः जो भावनाएँ, धार्मिक चिन्तन की जो विश्रृङ्खल कड़ियाँ, काल-निर्णायक जो भूमिका और गतिशीलता पथी-गीतों में व्यक्त होती है वह अन्य गीतों में नहीं। निश्चय ही कबीर तथा नाथपंथियों का इन लोक-गीतों पर काफी प्रभाव है।

स्त्रैण-प्रवृत्ति के गीत परम्परागत सम्पत्ति हैं और भाषा-विज्ञान एव लोक-वार्ता-शास्त्र की दृष्टि से संग्राह्य है। अनेक मालवी लोक-मान्यताएँ, जो गीतों से जुडी हुई हैं, भारतीय मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन मे सहायक सिद्ध होती हैं। यही बात मालवा के उपभाग निमाड़ के लोक-साहित्य पर लागू होती है। कतिपय ऐतिहासिक निर्णयों के लिए निमाडी लोक-साहित्य तो निश्चय ही उपयोगी है।

म्हारो देस मालवो, मुलक निमाड
गाँवड़ा को छे रहे बास

निमाडी लोक-गीत की उक्त पक्ति यह प्रकट करती है कि निमाड़ में ग्रामों का वास है, जो मालवा का ही एक भाग है। यह भूमि कर्म-रत किसानों के स्वरों से मुखरित है। अनेक अज्ञात लोक-गीतकारों की ध्वनि मालवा और निमाड़ में समान रूप से प्रवाहित है। मालवी गीतों में कुछ गीत तो ऐसे हैं जो गान-पद्धति एव बोल में बिना किसी विशेष भेद के गाए जाते है। गनगौर, भात, पूर्वज, फुल-पाती आदि के गीत इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें (स्त्रैण-प्रवृत्ति के गीतों में) गत्यात्मकता का अभाव है। राजस्थानी गीतों की तुलना से यह अन्तर तत्काल ज्ञात हो जाता है।

गीतो का रङ्ग

मालवी गीतों का रग भड़कीला नहीं है। हल्के और सौन्दर्य-प्रसाधनात्मक नैसर्गिक रगों का उल्लेख मालवी गीतों में निखरा है। भावनाओं में सादगी, सरसता तथा रागात्मक तत्त्वों से मालवी गीत परिपूरित हैं। इनमे आदिम प्रवृत्तियों का प्रभाव कम और मध्यकालीन कृषि-प्रधान सभ्यता का

मालवा ग्रामों का प्रदेश है। प्राकृतिक हरियाली उसे सहज ही प्राप्त हो गई है। इसलिए हरा रग मालवा की विशेषता है, यद्यपि पीत और नील के सयोग से वह स्वाभावतः व्यक्त हो जाता है। गीतों में प्रयुक्त 'लीला' शब्द हरे रग का ही पर्याय है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि झोंपडियों और गोबर से लिपे-पुते 'ओवरों' मे बसने वाले मालवी-जनों का सयुक्त चित्र बहुत ही कम रगों में अकित किया जा सकता है। साँझ होते ही खेत अथवा 'माळ' (जिसका मालवी अर्थ जगल है) से लौटते हुए ढोरों के समूह और उनके गले में बँधी घण्टियों की ध्वनि तथा अल्हड़ युवकों के लम्बे अलाप प्रकृति से उनके नैकट्य का भान कराते हैं और फिर थोड़े ही समय के पश्चात् शीत-काल में 'अलाव' लगाकर किसान-युवकों के झुण्ड अलग-अलग दीखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो सामाजिक नैकट्य उनके जीवन का स्वभाव हो गया है।

'अलाव' के चहुँओर समाज का यह नैकट्य अगीत-साहित्य की रक्षा में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। पुरुषों में प्रचलित कथाएँ, लोकोक्तियाँ, पहे-लियाँ और चुटकुले ऐसे ही समय मनोरजन के प्रधान अग होते हैं। मालवी का अगीत-साहित्य वस्तुतः मौखिक गद्य ही है, पर उसमें कहीं-कहीं पद्य की छटाएँ गद्य-गीत अथवा गद्य-पद्य के मिश्रित वैभव को उद्घाटित करती हैं। रातों चलने वाली कथाएँ, स्त्रियों में प्रचलित व्रत-कथाएँ (वार्ता), पारसी (पहेलियाँ), केवात (कहावतें), अवदान आदि मालवी लोक-गद्य की मिली-जुली सामग्री है। लगभग २५५ कहानियों के मध्यभारत-क्षेत्र से सकलित किये जाने का उल्लेख श्री वेरियर एलविन ने किया है। इन कहानियों में अधिकाश कहानियों ने दूर-दूर तक यात्राएँ की हैं। एक बृहद् सग्रह के अभाव मे यह निश्चित करना कठिन है कि मालवी कहानियों का एशिया की कहानियों में क्या स्थान है।

'किलगी-तुर्रा'

'किलगी-तुर्रा' की एक परम्परा मालवा और निमाड में 'माच' की भाँति ही विद्यमान है। इस अखाड़े के लोग कुछ तो परम्परा से प्राप्त

प्रसग किसी विशेष छन्द मे कहा तो सामने वाले पक्ष को उस छन्द की अन्तिम पक्ति लेकर उसी छन्द मे उत्तर देना पडता है। अन्यथा 'सिकस्त' समझी जाती है।

'किलगी-तुर्रा' मे कई प्रकार की रगते होती हैं। छोटी रगत, बडी रगत, लॅगडी रगत, आडी रगत, खडी रगत आदि रगते गाने के विशेप ढग हैं। जुवावी, अधर-रकारी, तितारी, चौतारी, दुअग, मनबसी, झड, झडती, वहर-तबीर, सनत, दूहा, सेर आदि छान्दिक प्रकारो का प्रचलन दोनो पक्षो मे पाया जाता है।

'अधर रकारी' तो टेढी परीक्षा है। इसके छन्द मे एक भी अक्षर ओष्ठ्य नहीं होता है।

मोरगडी (निमाड) के हीरामुकाती, अकबर खॉ, आगर (मालवा) के 'किलगी' अखाड़े के भेरू, मोती, मुगलखॉ और चेतराम तथा 'तुर्रा' अखाड़े के बलदेव उस्ताद की रचनाएँ लोगो मे बहुत प्रचलित है। कदाचित् इस साहित्य का विकास मुसलमानी शासन-काल मे हुआ है। पिछले तीन-चार सौ वर्षों की लोक-भावनाओं को जानने के लिए यह साहित्य उपयोगी है। इसका अधिकाश साहित्य उच्चकोटि का है।

फुटकर प्रयत्न

मालवी लोक-साहित्य-संकलन का जो कार्य अब तक हुआ है वह सन्तोषजनक नहीं है। इस दिशा मे सर्व प्रथम ध्यान देने वाले श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव हैं। श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' ने भी मालवी-सम्बन्धी लेख लिखकर बहुत पहले (सन् १६३३ में) इस दिशा मे प्रेरणा दी है। पण्डित प्रयागचन्द शर्मा (खडवा) ने 'मालवी लोक-गीतो में नारी'[१] तथा पण्डित गोपीवल्लभ उपाध्याय ने 'साधना' मे प्रकाशित अपनी कुछ रचनाओ द्वारा (१६४३) गीत-सकलन के प्रति रुचि पैदा करने मे योग दिया। श्री जी० आर० प्रधान ने बम्बई-विश्वविद्यालय के समाज-शास्त्र-विभाग के लिए सन् १६३६ और ४२ के बीच भूतपूर्व धार रियासत से कुछ मालवी गीत एकत्र

१ 'हंस', सितम्बर १६४० ।

श्री कुमार गन्धर्व ने मालवी गीतों की धुनों का अध्ययन इस आधार पर करना आरम्भ किया है कि वर्तमान हिन्दुस्तानी-पद्धति की राग-रागिनियों के स्वरों के मूल रूप लोक-सगीत में ही निहित हैं। लोक-धुनों को स्वरबद्ध करने से एव उनके गहरे अध्ययन द्वारा अनेक नये रागों का निर्माण सहज ही में किया जा सकता है। श्री कुमार के इस अनुसन्धान एव भारतीय सगीत के विकास-यज्ञ में उनकी पत्नी श्रीमती भानुमती गन्धर्व का भी पूरा-पूरा सहयोग है। *अपने इस प्रयास में श्री कुमार ने लगभग २०० धुनों का* सकलन करके ५० नये रागों का निर्माण किया है। 'नेशनल एकेडेमी ऑफ डान्स एण्ड म्युजिक' द्वारा इस दिशा में उन्हें विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाने की सम्भावना है।

लिखा गया है और दो-तीन वर्ष पूर्व बम्बई में खेला भी गया है। नाटक की कथावस्तु मालवा में जागीरदारी-प्रथा के दोषों को उभारते हुए निम्न-वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने में पर्यवसित हुई है। जागीर के अधिकारियों द्वारा राजल और भेरूलाल दो पात्र पीडित किये जाते हैं। एक ओर ये दोनों पात्र हैं और दूसरी ओर जागीरदार का दल। कैसा भी झगडा खडा करके जुल्म करना उनका साधारण काम है। जागीरदार के आदमी सुन्दर-सिग, कामदार और महाराज सब अपना काम बडी मुतैस्दी से करते हैं।

इन सबके ऊपर है जागीरदार, जो इन जोंको के जरिए लोगों का खून चूसकर विलास-रग मे मस्त रहता है। उसे इसकी परवाह नही कि कौन मरता है और कौन जीता है।

अन्य पात्र कथा के विकास में सहायता देते हैं। बा की पिटाई और राजल की मौत एक नया वातावरण पैदा करके नाटक में गति उत्पन्न करते हैं। सुखलाल, फकीर और मोत्या नौकर जागीरदार के अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाकर उसका और अन्य कर्मचारियों का भण्डा फोडने के लिए पुलिस और अधिकारियों से मदद लेते हैं। वे भी दिन को रात बनाने से नहीं चूकते। परन्तु जिस बात को गाँव का एक-एक आदमी जानता था और जो जागीरदार के अत्याचारों से पीडित था, इस सचाई के गवाह के रूप में जब प्रस्तुत दिखाई दिया तो सामूहिक शक्ति के सम्मुख किसी की भी न चल पाई और असली खूनी पकड़ लिए गए।

सम्पूर्ण नाटक मे प्रारम्भ से अन्त तक स्वाभाविकता व्याप्त है। कोई ऐसा स्थल नही है जहाँ लेखक की क़लम बहकी हो। जागीरदारी-प्रथा के विरोध में लम्बे-लम्बे भाषण इसमें नही हैं। श्री अमृतराय के शब्दों में कहें तो 'तकरीरों के भयानक रोग' से 'जागीरदार' बिलकुल मुक्त है। असत्य को प्रतिबिम्बित करने की कोशिश लेखक ने नहीं की है। सुखलाल और फक़ीर जागीरदार के अत्याचार के विरोध मे लेक्चर नहीं देते, बल्कि बात-चीत के दौरान में अपने हृदय के फफोले फोड लेते है। फक़ीर एक ऐसा पात्र है, जो मुसलमान होते हुए भी हिन्दू और मुसलमान मे भेद नहीं

जागीरदार का अन्त सुख में हुआ। घटनाएँ सभी इस ढंग से उठीं और सुलझी हैं कि हमें अस्वाभाविकता का लेश-मात्र भी आभास नहीं होता।

'जागीरदार' के सम्बन्ध मे इतना लिखना इसलिए अनिवार्य प्रतीत हुआ कि मालवी-गद्य के विकास में यह नाटक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

मराठी भाषी लेखक के द्वारा 'जागीरदार'-जैसा महत्त्वपूर्ण प्रयोग गौरव का विषय है। इसी प्रकार कतिपय और फुटकर प्रयोग श्री नारायण विष्णु जोशी द्वारा किये गए हैं, जिनमें छोटे प्रहसन और कुछ कविताएँ हैं।

आधुनिक मालवी-गद्य में नाटकों का यह क्रम निरन्तर बना नहीं रहा। बीच-बीच में यदा-कदा ही ऐसे प्रयोग पत्रों में दीख पड़ते थे। पिछले वर्ष प० सूर्यनारायण व्यास ने कुछ मालवी-प्रहसन तैयार किये थे। जिनको अब एक सग्रह-रूप में प्रकाशित कराया जा रहा है।

श्रीनिवाश जोशी-कृत 'वाह रे पट्ठा भारी करी' उज्जैन के एक पण्डे की कहानी है, जो इन दिनों अत्यन्त लोकप्रिय हुई। 'वीणा' मासिक में वह क्रमशः प्रकाशित होती रही। यद्यपि वह अभी पूर्ण नहीं हुई है, तथापि उसका थोडा ही अश शेष रहा है। घटना इस प्रकार है कि एक अग्रेज महिला-आर्टिस्ट भ्रमण करते हुए उज्जैन पहुँचती है। स्थान-स्थान पर उसने अपनी तूलिका से कई प्रकार के 'मॉडल' बनाये थे। उज्जैन में उसे एक पण्डे का स्वरूप, डील-डौल और गेट-अप बहुत पसन्द आता है। वह महाराज गुरु गोटूलाल से, जैसा कि उनका नाम था, प्रार्थना करती है कि वह उसके ठहरने के स्थान पर चलकर कुछ समय के लिए 'सिटिंग' दे, ताकि वह चित्र बना सके, इसके एवज में उसे कुछ रकम दी जायगी। गुरु तो तैयार थे। नेकी और पूछ-पूछ। 'महाकाल महाराज की किरपा से ऐसा जिजमान रोज थोड़ी ही मिले हे।'

चित्र तैयार होता है एक बड़ी चित्र-प्रदर्शिनी में उस महिला को अपने 'माडल' पर पुरस्कार प्राप्त होता है। अपनी सफलता से प्रसन्न होकर महिला

का अनुवाद) और श्री चिन्तामणि उपाध्याय (कुछ स्वतन्त्र कहानियाँ) को भी प्राप्त है।[1]

पत्र-साहित्य में मालवी के वर्तमान गद्य का स्वाभाविक स्वरूप निखरा है। पत्रों का सिलसिला हमें दूर तक प्राप्त होता है। यदि पिछली शताब्दी से लगाकर अभी तक के कुछ पत्रों का सकलन किया जाय तो हमें गद्य के परिवर्तित रूप का ज्ञान सहज हो सकता है। मध्यवर्गीय मालवीय तो आज भी जहाँ मालवी का प्रयोग आवश्यक है वहाँ निस्सकोच उसमें लिखा-पढी करते हैं। शिक्षितों का इस ओर जब से ध्यान गया है, विवाह की पत्रिकाओं में कवि-सम्मेलनों के निमन्त्रणों में, तथा ग्राम के कार्य-क्रमों आदि मे स्थानीय भाषा के माध्यम का फैशन-सा चल पडा है।

अन्त में मालवी के आधुनिक गद्य के सम्बन्ध मे हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि वह पुष्ट नहीं है। नवोत्थान का वाहक साहित्य पहले पद्य में ही अधिक परिपुष्ट होता है। यह मालवी में भी दीख पडता है।

पद्य

पद्य की दृष्टि से मालवी का आधुनिक साहित्य काफी समृद्ध हो रहा है। श्री सुखराम द्वारा लिखित 'ललितादेवी का विवाह' और 'रुक्मिणी मगल' (निमाडी) तथा आगर के श्री मुकुन्दराम नानूराम एव शकरलालजी की लावनियों से आरम्भ होकर नन्दकिशोरजी की हास्यरसी पुस्तकें 'पढत पच्चीसी' एव 'खटमल बत्तीसी' से होते हुए 'युगल विनोद' (युगलकिशोर, शाजापुर) एवं बालाराम पटवारी (नागदा) की 'किरसानी कीचड' तक की पीढी का पद्य सहज लेखन की प्रवृत्ति का द्योतक है। इस सिलसिले में आधुनिक गद्य के आरम्भकर्ता पन्नालाल नायब का स्थान भी है। उनकी कविता-में गद्य की भाँति ही ग्रामीण हास्य की छटा मिलती है। 'गोरा' नामक कविता

१ सन् १९२८ के लगभग श्री दीनानाथ व्यास ने भी मालवी-कहानियाँ लिखने का प्रयत्न किया था। 'मालवी खटला' नामक उनकी कहानी उन्हीं दिनों 'जयाजी प्रताप' (लश्कर) में प्रकाशित भी हुई थी।

श्री दुबे के पूर्व नवयुवक कवि 'तोमर' के मालवी-गीत लोगों मे प्रचलित थे। बीच में तोमरजी कुछ समय तक मौन रहे और अब पुन. सामने आ रहे हैं। दुबेजी इस सक्रान्ति-काल में धरती की सुगन्ध लेकर प्रकट हुए। यद्यपि उनका कोई सग्रह अभी तक प्रकाश मे नहीं आया है, तथापि फुटकर कविताओं ने लेखकों और कवियों को ही प्रभावित नहीं किया, लोगों के मन पर भी गहरा असर किया है। 'बसन्त्या बरसात अईगी रे', रामाजी 'रई गया ने रेलजाती री', 'असाबेटा नागड़ा', 'सेर चलाँ रे', 'नाना की लाड़ी', 'हूँ अदड़ ईग्यो', 'कुँवारो नानो' आदि कविताएँ लोगों में बहुत प्रचलित हैं। आपमें गति और भाव-बोझिलता का समन्वय हुआ है। ग्रामीणों के मन को छूने वाली उक्तियाँ और मुहावरे कविताओं की पक्तियों में बिखरे हुए हैं। वातावरण पैदा करने की क्षमता श्री दुबे में उल्लेखनीय है। 'हूँ अदडईग्यो' नामक कविता में गॉव का एक किसान किसी मेम साहब की साइकिल से टकरा जाता है। उसी प्रसग का चित्र है :

'म्हन सोच्यो कोई हे मेम,
पण झूठो निकल्यो म्हारो भेम।
मेम बापड़ी क्यों आवेगी,
ऊई तो याँ से न्हाटी गई।
सो बरस में माल मुसालो,
सगळो याँ को चाटी गई।
साँम भी लेणे नी पायो थे,
बई सिकल गई अई पास।
झन्नाटा गन्नाटा खाती,
टणन् टणन् घंटी टणकाती।
फिरे फिरकनी पजा छीएण्या,
हूँ जँई जऊँ तो वा ऊँई आवे
अँई-ऊँई अँई-ऊँई हात हलावे।
हूं मरक्यो तो वा अदडाणी

बालिका के जीवन-दैन्य का चित्र है। सामयिक विषयों पर भी व्यास की लेखनी चली है। ग्राम-पञ्चायत, चुनाव, दीपावली, होली आदि पर उनकी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। हाल ही में 'हम लोग' शीर्षक कविता श्री व्यास की लेखनी से प्रसूत हुई है। कविता वर्तमान राजनीति को अपने में समेटे हुए पूरे जोश के साथ उठती है। खेतिहर मानव का विश्वास और व्यर्थ के सामाजिक और राजनीतिक ढोंग का विरोध कविता की कड़ियों में बँधा है। उसे मालूम है :

'धरती कोई कागद नी जीपे लिखी कलम से उगड़ेगा।
यों तो हल की रेख मँड़ेगी, जभीज बिगड़ी सुधरेगा ॥'

मुहावरों के प्रयोग भी मदन व्यास की कविता में स्वाभाविक हो गए हैं। अपने देश की वर्तमान दुर्व्यवस्था का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :

अब हमके अपणा हक मालम, आज पड़ीग्या साँचा—
हमने भणी लिखी ने जूना-नवा लेख सब बाँच्या।
नवी पार्टी, नवा पेंतरा, नवी-नवी जोड़ी जम्मात—
लालच का आन्दोलन उपजे, नवी-नवी होवे कुचमात।
कोई कोई की नी सुणे, 'ढोलकी अपणी-अपणी सभी बजइरया।
या केसी कँई राजनीति हे ? अपणा-अपणा मूँडे बइरया।
नई की बणी बरात सभी ठाकर हुइग्या तम बराती,
ओंदो अलग आरती गावे वेरो गइरयो परबाती।
रस्ता की कोई बात करेनी, उल्टी-उल्टी सोचेगा—
इस तरे ता यो संग कदीनी बदरीनाथ तक पोंचेगो।
अरे रास पिराणा खैंचा से तो गाड़ी आज अड़ीगी—
अब तक नी समजा था, पण अब हमके समज पड़ीगी।

रेखांकित पक्तियों में मुहावरों का प्रयोग किस तरह किया गया है यह देखने ही योग्य है। मदन व्यास ने हाल ही लोक-गीत की शैली पर कुछ नये छन्द दिये हैं। रमिया की टेक वाले एक फाग की इन पक्तियों में किसान की मस्ती को देखिए :

मालवी के क्षेत्र में खींचते रहे हैं। आपकी भाषा में परिमार्जन और स्वाभाविकता का अभाव है। यह कमी श्री भगवन्तशरण जौहरी की कविताओं में भी लक्षित हुई, जब कि उन्होंने मालवी में लिखने का प्रयास किया। **'म्हारा मन में हूक उठे जद'** कविता मे जौहरी जी का भाषा-शैथिल्य प्रकट होता है। उप्पल में उसकी मात्रा उतनी नहीं है। श्रीनिवास जोशी ने जब पद्य लिखने का प्रयत्न किया तो उसी प्रकार की अस्वाभाविकता प्रतीत हुई है। **'मन्त्री म्हारा लाडला'** यद्यपि मालवा में गाये जाने वाले 'सजा' के गीतों के छन्द में है तथापि उसमे प्रभावहीनता लक्षणीय है। मजदूर-कवि मानसिह 'राही' इन सबसे परे है। उसके प्रयोग सीधी-सादी भाषा में मन को चुभने वाले सिद्ध हुए हैं। यद्यपि मानसिंह 'राही' ने अधिक नहीं लिखा, फिर भी **'भारी करो राम'** जैसी उनकी कविताएँ मजदूर-क्षेत्र में बार-बार पढी जाती हैं। श्री सूर्य नारायण व्यास ने 'मालव-सुत' उपनाम से 'मेघदूत' का मालवी अनुवाद किया है। पुस्तकाकार रूप में 'मालवी कविताएँ' (भाग एक) नामक सग्रह मालवा के कई आधुनिक कवियों का प्रतिनिधित्व करता है। नये कवियों की श्रेणी में श्री बसन्तीलाल बब, सिद्धेश्वर सेन (उज्जैन), धीरेन्द्र ओझा (तराना), गिरजेश, 'पहाडी' (कजाडी), शिवकुमार उपाध्याय (तराना), प्रेमनारायण सोनी (शाजापुर), राजपाल आर्य (इन्दौर), शशि भोगलेकर (रतलाम), उत्सवलाल तिवारी (खाचरोद), घासीराम वर्मा (देवास), गेंदालाल राजावत (उज्जैन), रमाशकर शर्मा (उज्जैन), शिवशकर शर्मा (इन्दौर) के नाम उल्लेखनीय हैं। 'गाधी-मानस' के लेखक श्री नटवरलाल 'स्नेही' ने भी मालवी मे कुछ रचनाएँ की हैं, जो वास्तव में प्रौढ और परिमार्जित भाषा में है।

मालवी का आधुनिक पद्य-साहित्य विकास की दिशा में है। लोक-गीतों के प्रयोग की बात जो ऊपर कही गई है इन दिनों कतिपय कवियों द्वारा अपनाई जा रही है। मन्दसौर के श्री बैरागी को इसमें बहुत सफलता प्राप्त हो रही है। फिर भी नये प्रयोगों की आवश्यकता है। परम्परा के पीछे चलने का आग्रह कम होना चाहिए और नये विषयों को नये उन्मेष के

उपसंहार

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—"आधुनिक भारत की सस्कृति एक ऐसे शतदल कमल के साथ उपमित की जा सकती है, जिसका एक एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहित्य सस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तिक बोलियाँ, जिनमें साहित्य सृष्टि हुई हो, अपने-अपने घर की रानी बनकर रहें। प्रान्तिक जन-गण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश भूमि-स्वरूप कविता की भाषा होकर रहे और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्यमणि बनकर हिन्दी विराजती रहे।"

प्रान्तीय भाषाओं के विकास से हिन्दी के अहित की चिन्ता करने वाले मस्तिष्कों के लिए उक्त उद्धरण कुछ समाधानप्रद सिद्ध हो सकता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् जनपद की भाषाओं और बोलियों का प्रश्न अनेक अशों में हिन्दी के लिए अनिवार्य प्रतीत हो रहा है। 'जनपद आन्दोलन' के रूप में यह चेतना उठती जा रही है। यद्यपि अवैज्ञानिक तर्कों की आड मे भ्रान्तियाँ भी इस तेजी से फैलती रही हैं कि मानो प्रान्तीय भाषाओं के विकास से हिन्दी का नाश ही हो जायगा। हिन्दी का इतिहास जबकि स्वय अपने विकास की कड़ियों को राजस्थान, ब्रज, अवधी, मैथिली, बुन्देली आदि से जोड़ता जा रहा है, तब इस प्रकार के विचारों का होना

अपनी गृहस्थी बसाने का निश्चय कर सकती हैं।'[1]

भाषाओं के स्वतन्त्र विकास के प्रश्न पर अनेक भ्रान्तियों के पैदा होने के कारणों पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में काफी सामग्री प्रकाशित हुई है। जनपदीय चेतना के मूल में हिन्दी के अन्तर्गत महा पण्डित राहुल साकृत्यायन ने 'मातृभाषाओं का प्रश्न',[2] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'जनपद कल्याणी योजना'[3] और बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विकेन्द्रीकरण'[4] योजनाएँ दी हैं। इन योजनाओं में मातृ-भाषाओं के प्रश्न पर काफी मन्थन किया गया है। सयुक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सघ की कौंसिल ने इस विषय की अनिवार्यता को समझकर श्री शिवदानसिंह चौहान को 'जनपदीय भाषाओं के प्रश्न' पर विस्तृत रिपार्ट तैयार करने के लिए आग्रह किया था। उस रिपार्ट में सभी तर्कों और योजनाओं पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। यहाँ उन सब बातों का जिक्र करना सम्भव नहीं, किन्तु इतना कह देना जरूरी है कि प्रान्तीय भाषाओं के विकास से हिन्दी को यथेष्ट लाभ ही होगा। "बोलियों में जहाँ भाषा को विभूषित करने की सामर्थ्य है, वहाँ उनके प्रदेश के सस्कारों की परम्परा का बीज भी निहित है, जो हमारे इतिहास और संस्कृति के स्रोत हैं। इन स्रोतों को सजीव रखना हमारे लिए उतना ही आवश्यक है, जितना जीवन। इस पर भी इन बोलियों में एक ऐसा सुदृढ़ स्नेह-सूत्र गुँथा हुआ है कि वे पृथक् दिखाई देते हुए भी एक रूप बनी हुई रहती हैं। वह है संस्कृति का आधार, जिसमें दिखाई देने वाली विभिन्नता में भी एकता सुरक्षित है।"[5] अत. हमें बोलियों या जनपदीय भाषाओं से भय खाने की

१ 'जनपदीय भाषाओं का प्रश्न', शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ २५६।

२. 'हंस, सितम्बर', १६४३।

३. 'पृथ्वी पुत्र', (१६४६)।

४. 'विशाल भारत', फरवरी, १६३४।

५ देखिए सम्पादकीय टिप्पणी, 'विक्रम', नवम्बर, १६५२।

सिलसिला भी चलना चाहिए। फिर भी लगभग हजार-डेढ़-हजार गीतों का एक प्रामाणिक संग्रह, लोकोक्तियों और लोक कथाओं के संग्रह तथा रीति-रिवाजों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकों का प्रकाशन निकट भविष्य में पहले हो जाना चाहिए, जिससे कि मालवी लोक-साहित्य के अध्ययन और *अनुसन्धान के लिए मार्ग प्रशस्त हो सके।*

ध्वनि-सकलन

गीतों की धुनों का रिकार्डिंग भी ध्वनि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य है। वैसे कुमार गन्धर्व ने अनेक गीतों की स्वर-लिपियाँ तैयार की हैं। रिकार्डिंग के माध्यम से यह कार्य और भी सरल हो जायगा। कहा जाता है कि इन्दौर के किसी प्रभाकर चिंचूरे नामक सज्जन ने कुछ मालवी लोक-गीतों की स्वर-लिपियाँ बनाई थीं, पर वे अब उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय में गम्भीरता पूर्वक प्रयास करने की आवश्यकता है। ये ही स्वर-लिपियाँ और रिकार्डस् आगे आने वाले अनुसन्धान-कर्ताओं के लिए एवं भारतीय संगीत को लोक-सगीत के निकट लाने में सहायक सिद्ध होंगे।

हमारा दृष्टिकोण 'एकेडेमिक' तो हो ही, पर उसे रूढिगत सिद्धान्तों का पल्ला पकडकर नहीं चलना है। यदि नये सिद्धान्तों से हम नई बातों की खोज सरलता पूर्वक कर सकते हों तो हमें उन्हें अपनाना चाहिए। लोक-गीत और लोक-साहित्य के सम्बन्ध में हम यहीं तक मानकर न रुक जायँ कि उनमें जन-जीवन के दर्शन होते हैं, अपितु उनमें इतिहास और मन के गूढ भेदों को प्रकट करने की क्षमता और साहित्य तथा भाषा-विज्ञान को पुष्ट करने लिए यथेष्ट सामग्री है।

भाषा-पर्यवेक्षण

मालवी भाषा और उसके भेदों का विस्तार पूर्वक पर्यवेक्षण भी अपेक्षित है। इससे हमें उलझनों को सुलझाने और नये ज्ञान को प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। खोज करने वाले जिज्ञासुओं को मालवा के भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर भाषा की दृष्टि से प्रचलित भेदों के मानचित्र तैयार करके

क्षेत्र के साहित्यिकों ने 'निमाड लोक-साहित्य-परिषद्' की स्थापना की है, जो हर्ष का विषय है। निमाड के सन्त सिंगा का साहित्य निर्गुण धारा के कवियों के साहित्य की कडी है। उसका प्रामाणिक सग्रह उनकी जीवनी के साथ प्रकाश में आना चाहिए। यह काम नव स्थापित परिषद् अच्छी तरह से कर सकती है। सग्रह का कार्य छोटा नहीं है, इसलिए ऐसी और भी परिषदें होनी चाहिएँ, पर उनका सम्बद्धीकरण प्रमुख सस्था से बना रहे।

पत्र

प्रकाशन के साथ-समय प्रचार के लिए एक साप्ताहिक या पाक्षिक पत्र भी विशुद्ध मालवी भाषा मे प्रकाशित होना चाहिए। आधुनिक मालवी की रचनाओं और सग्रहीत साहित्य की जानकारी आदि के लिए उसकी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। मालवी के पत्र से कार्य करने की प्रवृत्ति को प्रेरणा तो मिलेगी ही, साथ ही एकता का सूत्र भी दृढ हो सकेगा।

अस्तु, प्रत्येक दिशा मे योजनाबद्ध कार्य हो। वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने जिन साधनों को सुलभ बना दिया है, उनका प्रयोग भी किया जाय।

मालवी मालवा की अपनी भाषा है। उसे सँवारना और पनपाना इसलिए अनिवार्य है कि उसमें जन-जीवन की चेतना के तत्त्व निहित हैं। अपनी भाषा का माध्यम पाकर जन के जीवन में जो नई चेतना उठ रही है वही चेतना जनपद की चेतना है।

म्हारी राजल बेटी क्यों हार्‌या
हारता-हारता चार जना में बोली मारूजी
म्हारी राजल बेटी क्यों हार्‌या ?"

'मामेरा'

गाड़ी तो रड़की रेत में रे बीरा
उड़ रही गगना धूल ।
चालो म्हारा छोहरी उतावला रे
म्हारी बेन्या बई जोवे वाट ।
छोहरी का चमक्या सींगड़ा रे
म्हारा भतीजा को झगल्यो झाग ।
भावज बई को चमक्यो चूड़लो रे
म्हारा बीरा जी का पचरँग पाग ।
काका बाबा म्हारा अत घणा रे
म्हारा गोयरे होना जाय ।
माड़ी को जायो बीरो एकलो रे
म्हारी घरद उजाल्‌या जाय ।'[1]

: आ :

"बस 'बसन्त्या' बरसात अई गई रे"

बस 'बसंत्या' बरसात अई गई रे ।
जीवी ने जस जाण जे 'बसंत्या',
जिन्दगी जई री थी,
पण हात अई गई रे ॥
बस बसंत्या बरसात अई गई रे ।

---

१. 'मालवी लोक-गीत' से ।

३

पुजारी 'परसराम' ने 'तिलोक्यो' तेली अने 'माँग्यो' माळी । .
पाणी परमेसरा की पोथी पढी ने
दीवा में तेल कूड़ी ने
झाड-झाड़ चढ़ी ने सुगन्धा फूल लातो थो, टाली-टाळी ॥
'केश्या' कुमार की क्यों को हे,
बापड़ा का गरीब गदा, ने घर वाली,
पाणी को पतो नी, दरोबड़ी का काँ दरसन ?
आँखे अई गई थी जाली ॥
'चेत्या' चमार की तबीयत फिकर से हुई थी माँदी ।
बापड़ा ने एकादी पनी साँदी की नी साँदी ॥
लोग ना साँची कईग्या कि,
फिकर फकीर खे भी खई गई रे !
'बसत्या' फिकर मत कर, अब तो बरसात अई गई रे ।
बस बसन्त्या बरसात ॥

४

'लच्छो' लुवार ने कारीगर 'कनइय्या'
सेठ 'सीताराम' खे कई रिया था भइय्या-भइय्या,
साँची कीजो. बखत बिगड़ी हे, अबे भूट की नी हे सइय्या
अबे राजा काँ हे तो पाणी खातर खेत में हल चलावे ।
'राम को', आज-कल की राणी पगे-पग खेते रोटी लई जावे ॥
जाणा दो या हमारा बस की बात नी, पाणी आवे की नी आवे
हमने 'उज्जणी' करी थी, गाँव ने गाँकर गोया में सेंकी थी ।
इतरा में उठी रे धरा से काली बादली,
थोड़ी सेंकी नी थोडी काचीज फेंकी थी ॥
छाँटा जोर का आया, सेरा सोर का आया,
पाणी पतरा पे पड्यो ने पनाल पे आयो ।

ऊँई–'टिकल्यो', टापरी में से टरकी ने,
किनी तरती से तरतई रियो थो ?
इको काम सरतो थो, पण यो बापड़ो नाहक दूसरा का दुख से मरतो थो
ढोल ढगाड़ो थो ने कम्बल खे लत्ता से जोड़यो थो।
पण कोईने चार ऊनी कपड़ा पेरी ने, फिर भी दुशालो अद्दर से ओढ़यो थो
कई शालो ने कई ढनालो, मनखे भेम की बात खई गई रे॥
बखत पे खेल बो 'बसंत्या', बरसात श्रई गई रे॥

७

पूछणे वाला ने पूछ्यो, 'इना टिकल्या खे या कायकी टेंटस हे' ?
'अने इका पास हे कंई ? तो इतरी एंठस हे'
'हे तो टूटी टापरी ने एक बखत काज दाणा'।
'फिर इका मूँडा पे क्यों मान हे ? ने इकी जिन्दगी में क्यों जान हे ?
या कोई बताओ, जबे जाणा'॥
केणे वाला ने कई दियो, 'देखो दुशालो मोल में भारी हे।
तो कम्बल तोल में भारी हे॥
पाणी की बूँद टापरी में टप-टप टपकी री थी।
'टिकल्या' की परणी बेंरा 'टिकली' छोरा खे थप-थप थपकी री थी
पाणी जोर से आयो 'टिकली' ने गीत फिर गायो।
इतरा में झोंपड़ी झाड़ समेत झड़ोगी।
देखते-देखते वई ने आगे बढ़ीगी
लोगना लपक्या 'अरे झोंपड़ी जई री हे'।
'टिकल्यो' मस्ती से बोल्यो 'दुनिया जीती हे,
पपइय्यो तीसो हे ने पपइय्यण फिर भी रीती हे'।
'सुक सींचो' भगवान साँची बरसात भई गई रे।
बस बसन्त्या बरसात श्रई गई रे॥[1]

---

१. आनन्दराव दुबे 'मालवी की कविताएँ' से।

रामेशरजी का राजा ने चोकी पेरा वाग में वेवाड्या ने अणी चोर को पतो लगाड्यो पण ऊँट हाते नी आयो। एक दिन फेर वणी ने गर्दन लम्बी की दी। तो एक शपाई ने गर्दन पकडी लीदी। अबे ऊँट दरप्यो ने पाछी गरदन छोटी कीदी तो उ शपाई भी गर्दन के हाते लछमण-झूला में आइग्यो। अबे उ शपाई ववराणो ने ऊँट ती क्यो के हे ऊँट राजा मूँ थारो कई नी वगाडूगा मने थू फेर रामेशरजी में मोकली दे ने थारी एक निशानी मने दई दे। ऊँट ने वाको फाडयोन एक तल काडी ने दी दो और कयो के अणी तल ने थारा राजा ने दीजे और अणी ने बारा ने बारा चौवीश कोस का घेरा में वावजे तो अणी तल का फल वह जागा। वणी शपाई ने फेर वा गर्दन पकड़ी ने उ पाछो वणी के नाम में आइग्यो। फेर वणी ने राजा ती क्यो के राजाशा राजाशा फरयाद है। तो राजा वोल्यो के कई वात है चोर पकड़ाणा के कोनी तो फेर शपाई ने ऊँट की वात की ने उ तल राजा ने दीदो। राजा ने वारा ने वारा चोवीश कोश का घेरा में उ तल वायो। उनारा का दना में वणी तल का रूँकडा के पीदे हाथी बँधवा लागा।...''[1]

आदर्श मालवी

"काल कुँवार सुदी पाँच का दन आपको चिट्ठी म्हारे मिली। बाँची ने गद-गद हुई ग्यो ने जदे मालूम पड़ी कि अरे यो तो कवि-सम्मेलन को नेवती है। अबे क्यों म्हार से केवाडो आँदा के जाणे आँख मिळी ने भय्या पर कस्या पछी खे पाँख मिली।"

यो जाणी ने कि यो जोग नरा दन में आयो है अने ऊ भी फिर अवन्तिका में—म्हारो हिरदो खूब हरक्यो हे साँची श्याम तमारा प्रेम के म्हने अबे परख्यो हे।

भ्य्या, जरूर अऊँगा। बजाते ने गाते-गाते दर्शन करूँगा भलई अई ने माथे-माथे। कई करूँ कलम बन्द नी होती—पण म्हारो बेमखत को वेकणो तमारा वखत की बरबादी नी करे वास्ते याँज कलम बन्द करी

1. 'वीणा' में प्रकाशित एक कहानी से।

लइगया। बडी तारीफ करी। हूँ खिंचतो चल्यो गयो।"[१]

(घ) "मालवी बोली में जो साहित्य है, वो बिखरयो हुवो है, एक जगे नी है, इससे हमखे अपना साहित्य की विशेषता को चैये उतनी भान नहीं होने पायो है। 'मालव' लोग इस देश में भोत पुराना जमाना से है, इनको गणतन्त्र इतिहास में अपनो खास महत्त्व और पुरानीपन रखे है। सिकन्दर का दाँत खट्टा करने वाला मालवी लोग था, महाभारत और पुराण में मालवी लोगों की कई कथा-गाथा भरी हुई हैं, तब उनकी भाषा, उनको साहित्य कई पिछड़्योज रियो होयेगा, या तो हुईज् नी सके, पर मालवा ने बड़ा उलट-पुलट, हवा का फेर-फार देख्या, ऊमे अपनो साहित्य भी वे बचई नी सक्या, पर जिस अवन्ती भाषा खे मालवा ने जनम दियो और जिससे प्राकृत, अपभ्रंश, महाराष्ट्री आदि पनपी, फैलीं वा भाषा ज् आज मालवी का नाम से चली आवे है। जो उदाहरण पीछे का मिले हैं उनमें और आज की मालवी में भोत फरक नी पड़्यो है। जितना फरक नगर और गाँव की बोली में दिखे है, उतनोज् पुरानी और नई में है। फिर वी इसमें वोज् ओज्, वोज् शक्ति और विचार खे हृदय का साथ प्रकट करने की क्षमता है।"[२]

: ई :

कबीर का लोक-गीतों पर प्रभाव

कबीर के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने लोक-मानस को अक्षुण्ण रूप से आकर्षित किया। उनके अकाट्य तर्कों और शास्त्रों की मिथ्या बातों का खुला विरोध निम्न जातियों की दलित भावनाओं को सन्तोष देने लगा। उन्हें वाणिज्य-व्यवस्था के नाम पर होने वाले अत्याचारों के घोर प्रतिवाद के लिए कबीर के रूप में एक प्रतिनिधि मिल गया। कबीर की तरह अन्य सन्तों ने भी निम्नवर्गीय लोक-समाज की हीन भावना का परितोष किया।

---

१. श्रीनिवास जोशी (बड़नगर)।

२. सूर्यनारायण व्यास (उज्जैन)।

'कबीर-ग्रन्थावली' में यही भावना एक पद में मिलती है। पद की कुछ पक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना उचित होगा। पंक्तियाँ हैं :

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद को करे निबेरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिना फूल फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाके, अष्ट गगन मुख वागा॥
पैर बिन निरति करा दिन बाजे, जिभ्या हीणा गावै।
—इत्यादि

इन गीतों को मालवी-क्षेत्र से प्राप्त किया गया है। सन् १९४९ में इन पक्तियों का लेखक ग्राम-पर्यवेक्षण-कार्य के लिए 'प्रतिभा-निकेतन' की एक समिति के साथ जून मास में मालवा के ग्राम लेकाडो, टकारिया और गोंदिया में रहा था। जैसा कि कहा गया है कि कबीर से दलित जातियाँ अधिक प्रभावित रही हैं, अतः ये गीत भी ऐसी ही प्रभावित दलित जातियों, बलई और चमारों के गायकों से प्राप्त हुए हैं। गायक अपने गीतों का विश्लेषण करने में असमर्थ हैं। हमारे सभी प्रश्नों के उत्तर श्रद्धा-भावना से बोझिल होकर, अस्पष्ट रूप में ही सामने आये। वे कहते, थे : **"मालक साब, तमारे हम समझाँवा केसे—या तो सब हरि सुमरण की माया है।"**

२

आप अलख इन्दर हुई बैठा, बूँद अमी रस छूटा
एक बूँद का सकल पसारा, पुरस-पुरस नर फूटा
अवदू[1] मन बिन करम नी होता।
आदो अंग नारि को कहिये आदो हर गुरु नर को
मात-पिता का मेल मिलिया करी करम की पूजा
पैला पिता एकला होता पूतर[2] जन्म्या दूजा
अवधू ··
धरी-आसमान[3] सुन[4] बिच नहीं था

१. अवधूत। २ पुत्र। ३. धरती-आसमान। ४ शून्य।

किया है। कबीर ने इन्हींका अनुकरण किया। ऊपर गीत में सात सागर (सायर) का वर्णन तो परम्परागत है, पर 'आठ कोडी परवत', 'नवकोली नाग' और 'बारा मेघ' का उल्लेख अवश्य चिन्तन का विषय है।

३

लख चौरासी भटकत-भटकत, अब के मोसम आयो रे
अब के मोसम चुकी जाय तो कहीं ठोर नहीं पायो रे
बनड़ाते भले रिझायो रे
म्हारी सुरत सुहागन नवल बनी सायब भर पायो रे
हेत[1] की हलदी ने प्रेमरस पीठी तन को तेल चढ़ायो रे
और मन पवन हतिवाली[2] जोड़यो वीर परण घर आयो रे
बनड़ाते०...
राम-नाम का मोड बँधाया बिरमा बेद बुलायो रे
अवन्यासी[3] को हुयो समेलो[4] वीर परण घर आयो रे
बनड़ाते०
राम-नाम का मोड बँधाया पहलो प्रेम सवायो
घोंच (?) घलन में सेज बिछाई ओढ़े प्रेम सवायो रे
बनड़ाते०

४

गणपत देव हिरदे मनाये
तिरबेणी गुण गाया
सिकर मेल में सुरता लागी-मेल जगाया
हे म्हारा हँसला हेरे भजन में
हे सतगुरु तेरी माया हे
अगम निगम—(?)—जार लागी
यठे कबीरा जोया हे
हे धरम पुरी का खुल्या दुवारा

१. प्रेम। २. हस्त-मिलन। ३. अविनाशी। ४ मिलन।

'सत्गुरू' शिष्य के हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करता है। वह अपनी अनन्त महिमा से शिष्य पर अनन्त उपकार करके अनत नेत्रों को खोलकर अनन्त को दिखला देता है। ऊपर गीत में परम गुरु 'सत्गुरू' ही है, जिसका परम पद गौरवशाली है। गीत में "उडद-सुड़द" का भाव स्पष्ट नहीं है। इसी तरह "बाला गोरा" सम्भवतः किसी का नाम होना चाहिए।

नाथ-पथी साधुओं के प्रति अनेक आश्चर्यजनक कथाएँ सम्पूर्ण भारत-वर्ष में प्रचलित हैं। गोरख और मत्स्येन्द्र, गोपीचन्द, भरथरी, रानी पिंगला आदि और आगे चलकर कबीर की जन-कहानियों के विषय बन गए। यही बात गीतों के क्षेत्र में भी हुई। "धमाली" और "जोगीडा" गीत इन्हीं योगियों के प्रभाव की देन हैं। इस तरह यदि लोक-गीतों पर कबीर के प्रभाव को अथवा उसके पूर्ववर्ती प्रभाव को ढूँढना चाहें तो वह अवश्य प्राप्त होगा।

कबीर ने अपने मत के प्रचारार्थ लोक-भाषा का आश्रय लिया था। उनके पूर्ववर्ती साधकों ने भी यही किया। अतएव भाषा के माध्यम से ये लोग जनता के समीप आ सके और अपनी विलक्षण बातों से उसे प्रभावित करते रहे।

ऊपर के चारों गीत धूला और सावतजी नामक गायकों से प्राप्त हुए हैं। धूला तो मालवा के बेटमा ग्राम के बालकदास बाबाका चेला है। किसी समय मध्यभारत में कबीर-पथियों और नाथ-पथी अखाडों का जोर रहा था। इसीलिए आज भी प्रायः प्रत्येक ग्राम में नाथ-पथी "जोगी" अथवा "जुगी" मिल जाते हैं और इन्हींको मानने वाले छोटे मोटे दल भी साथ ही पाये जाते हैं। विशेष रूप से दलित जातियों पर इनका बड़ा प्रभाव है। उनके लोक-गीतो पर यह प्रभाव इसीलिए अध्ययन की वस्तु है। उसमें परम्परा का आदि-स्रोत खोजना आनन्द का विषय है।[1]

---

१. 'धर्मयुग' जुलाई १९५१ में प्रकाशित।
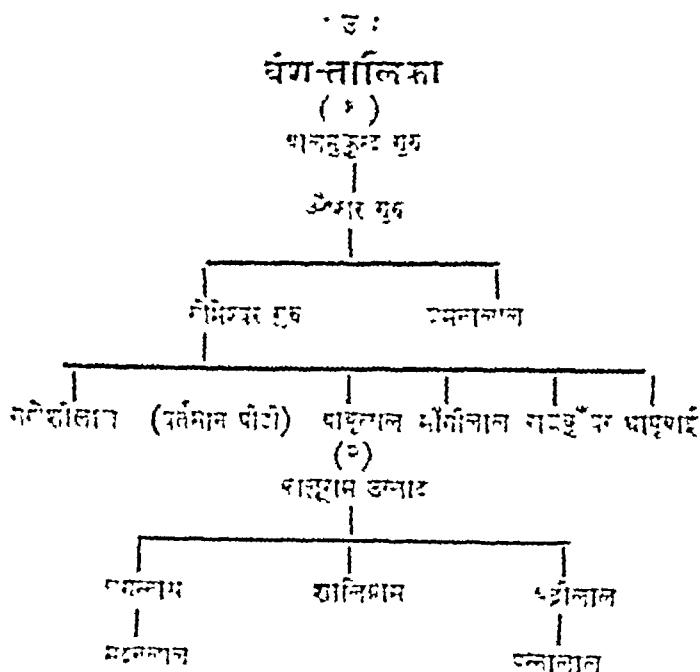
ऐसी खील जड़ाव कि जापे ठड़िया ठाठ।
सोहं वालो हालरो।
अगासी झुलवा होण दिया, लागे तिरबेणी डोर
अरे जुगत से झूला चलाविया, हेच्या 'मनरंग' मोर
सोहं वालो हालरो।
नी वालूड़ा या सोवतो, नी जागतो,
अरे नई रे जाया दूध
सदा से सिव जाकी संग में, खेले वजारण को पूत
सोहं वालो, हालरो।
अणहद घुँघरू बाजिया, आज भाग्या छ मेव
अरे सुरता करो हो विचार
आठ कमल जिया दल चढ़या, लागा साँकल डोर
सोहं वालो, हालरो।
नदि सिपटा[1] क घाट प, बठ्या ध्यान लगाय
आवत देख्या हो पिंजरा, लिया गोद उठाय
सोहं वालो हालरो।
आगा से लिखी आया हो सुरता करो हो विचार
राखो सरणा लगाय
सोहं वालो, हालरो।

: ए :

मालवी-भाषा[2]

मालवी एक करोड नर-नारी की भाषा हे, उका भीतरी भेट सीमा, प्रान्त का प्रभाव और सस्कार से भले थोड़ी-भोत फरक रखता होवे, पर मूल उको मालवीज हे। यूँ तो इना अपना प्रदेश ने पला कितनीज भाषा के जनम

१. खरहवा से ६ मील दूर सुक्का नदी।

२ मालवी कवि-सम्मेलन में पढ़ा गया श्री सूर्यनारायण व्यास का गवेषणापूर्ण भाषण।

वर्णन मिली केज् तो राष्ट्र को इतिहास बने, और गौरव बड़े। आज भले विक्रम, भोज, कालिदास, भर्तृहरि हमारा प्रान्त में हुआ, पर उनको इतिहास सारा राष्ट्र को गौरव देन वालो बनी गयो हे। वे राष्ट्र की विभूति हे, तो इनको स्मरण करनो सकीर्णता हुई जाय हे? आज पालि, प्राकृत, अपभ्रश, गुजराती, मराठी, बगला और विदेशा मे लिख्यो गयो साहित्य अपना देश को साहित्य हे। उनको इतिहास देश या साहित्य को इतिहास हे। इसी तरे मालवी का बारा में शका करनो बेकार हे। पतो नी हमने अपना विशाल प्रदेश की मालवी खे क्यों उपेक्षित करी रखी हे? इना उपेक्षा सेज् हमारो पुरानो साहित्य बिखर्यो हुयो हे, दुर्लभ बनी गयो हे। नी तो आज यो हाल नी होतो के देश में जितना भाषा का वर्ग बन्या उनमे मालवी को नाम तक नी हो तो। इखे स्वतन्त्रत भाषा में स्थान तक नी हे। या बात 'एक करोड लोग की बोली' का वास्ते तमखे शरम सरीकी हे। पर हम दूसरा खे दोष क्यों दाँ, हमने मालवी का वास्ते कई काम करयो, कोन सो उन्नति को रास्तो करयो या सोच्यो? हम तो बोलने, लिखने या बात करने तक मे शरमावाँ हाँ। भला एक करोड लोगना की भाषा को कोई साहित्य नी होय, पत्र नी होय, पोथी नी होय, ये हमारी मीठी, सुन्दर, सरल, सशक्त, कमनीय, मातृभाषा का हाल कितना आश्चर्य की बात हे। कबी हमने इनी निगा से विचार तक नी कर्यो। मालवी कितना दिल पर असर करे, कितनी जल्दी सारी जनता का निकट सम्पर्क कायम करे, इकी ताक्त से हमने समजने की कोशिसज् नी करी, जिनी बखत मने 'मेघदूत' का सब भाषा मे अनुवाद देख्या और मन मे आयो के मालवी में क्यो नी इको अनुवाद करि दिया जावे? तब म्हारे खे या शका हुई के बडा-बड़ा समास या वाक्य होन को किनो तरे सरल अनुवाद हुई सकेगो! पर मालवी की अद्भुत शक्ति और क्षमता उनी बखत समज मे आई जब—

'धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपात क्व मेघ'

पूरी ताकत से तन-मन-धन से इनी मधुर बोली के सब तरे उन्नत करने में कोई तरे बाकी नी रखागाँ। मातृ-भूमि और मातृ-भाषा को अभिमान रखी खेज् हम स्वाभिमान का साथ देशाभिमान राखी सकाँ हाँ।

: ऐ :

जनपद कल्याणी योजना[1]

जनपदो का साहित्यिक सगठन

मेरी सम्मति में जनपदी बोलियों का कार्य हिन्दी-भाषा का ही कार्य है। वह व्यापक साहित्यिक अभ्युत्थान का एक अभिन्न अग है। हिन्दी की पूर्ण अभिवृद्धि के लिए जनपदों की भाषाओं से प्रचुर सामग्री प्राप्त करने का कार्य साहित्य-सेवा का एक आवश्यक अग समझा जाना चाहिए। इसी भाव से कार्यकर्ता इस काम में लगें तो भाषा और राष्ट्र दोनों का हित हो सकता है। सेवा के कार्य से स्पर्धा या क्षति की त्रिकाल में सम्भावना नहीं है। अधिकार-लिप्सा और स्वार्थ-साधन की वृत्ति से पारस्परिक सघर्ष उत्पन्न हुआ करता है। चाहे जितना पवित्र काम हो, जब मलिन वृत्तियाँ घर कर लेती हैं तो कार्य भी दोषावह बन जाता है। यह तो व्यापक नियम का ही एक अग है। कवि के शब्दों में 'जड़-चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन्ह करतार' इस नियम का अपवाद साहित्य-सेवा भी नहीं है। मुझे तो जनपदों की भाषाओं का कार्य एकदम देवकार्य-जैसा पवित्र और उच्चाशय से भरा हुआ प्रतीत होता है। यह उठते हुए राष्ट्र की आत्मा पहचानने-जैसा उदार कार्य है, क्योंकि इसके द्वारा हम कोटि-कोटि जन-समुदाय की मूल सात्विक प्रेरणाओं के साथ सान्निध्य प्राप्त करते चलते हैं।

साहित्य का जो नगरों में पाला-पोसा गया रूप है, जिसे हम भगवान् चरक की भाषा में 'कुटी-प्रावेशिक' कह सकते हैं, उसके दायरे से बाहर

---

१ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, पी०-एच० डी० द्वारा प्रस्तुत।

साधारण जीवन की परिधि में एक-दूसरे की ओर बढ रहे हैं—सहस्र तन्तुओं से एक-दूसरे के साथ गुँथकर फिर एक ज्ञान की भूमि से अपना पोषण प्राप्त करने के लिए। यही वर्तमान साहित्यिक प्रगति की सबसे अधिक स्पृहणीय विशेषता और आशा है। हम ग्रामों के गीतों में काव्य-सुधा का पान करने लगे हैं। जनपदों की बोलियाँ हमारे लिए वैज्ञानिक अध्ययन की सामग्री का उपहार लिये खडी हैं। कहीं लुधियानी के उच्चारणों का अध्ययन हो रहा है, कहीं हरमुकुट पर्वत पर बैठकर भाषा-विज्ञान के वेत्ता सिन्धुनद की उपत्यका के एक छोटे गाँव की बोली का अध्ययन कर रहे हैं, कहीं दरद देश की प्राचीन पिशाच-वर्गीय भाषा की छान-बीन हो रही है, कहीं प्राचीन उपरिश्येन (हिन्दूकुश) पर्वत की तलहटी में बसने वाले छोटे-छोटे कबीलों की मुञानी और इश्काश्मी बोलियों का व्याकरण बन रहा है और यह सब कार्य कौन करा रहा है? वही राष्ट्रीय-कल्प-वृक्ष के रोम-रोम में नवीन चेतना की अनुभूति इस कार्य-जाल की मूल प्रेरक शक्ति है।

इस कार्य का अधिकाश सूत्रपात और मार्ग-प्रदर्शन तो विदेशी विद्वानों के द्वारा हुआ है और हो रहा है। हम हिन्दी के अनुचर तो अभी बड़े सतर्क होकर फूँक-फूँककर पैर रख रहे हैं। **प्रचण्ड शक्तिशालिनी हिन्दी भाषा की विभूति का विशाल मन्दिर जानपदी भाषाओं को उजाडकर नहीं बन सकता, वरन् इस पंचायतनी प्रासाद की दृढ़ जगती में सभी भाषाओं और बोलियों के सुगढ़ प्रस्तरों का स्वागत करना होगा।**

हम सोये पड़े थे, पर अध्यवसायी टर्नर महोदय नेपाली बोली का निरुक्त-कोष सम्पन्न कर चुके। हम अभी जँभाई लेकर आँखें मल रहे हैं, उधर वे ही मनीषी जागरूक बनकर हिन्दी-भाषा का उसकी बोलियों के आधार से एक विराट् निरुक्त कोष रचने में अहर्निश दत्तचित्त हैं।

कार्य अनन्त हैं। हमारे कार्यकर्ता गिनती के हैं। उनके साधन भी परिमित हैं। वैज्ञानिक पद्धति से कार्य करने की कला भी हममें से बहुतों को सीखनी है। फिर पारस्परिक स्पर्धा का अवसर ही कहाँ रहता है? जानपदी

साधारण जीवन की परिधि में एक-दूसरे की ओर बढ़ रहे हैं—स
तन्तुओं से एक-दूसरे के साथ गुँथकर फिर एक ज्ञान की भूमि से अप
पोषण प्राप्त करने के लिए। यही वर्तमान साहित्यिक प्रगति की स
अधिक स्पृहणीय विशेषता और आशा है। हम ग्रामों के गीतों में का
सुधा का पान करने लगे हैं। जनपदों की बोलियाँ हमारे लिए वैज्ञा
अध्ययन की सामग्री का उपहार लिये खड़ी हैं। कहीं लुधियानी के उच्च
रणों का अध्ययन हो रहा है, कहीं हरमुकुट पर्वत पर बैठकर भाषा-विज्ञ
के वेत्ता सिन्धुनद की उपत्यका के एक छोटे गाँव की बोली का अध्ययन क
रहे हैं, कहीं दरद देश की प्राचीन पिशाच्च-वर्गीय भाषा की छान-बीन ह
रही है, कहीं प्राचीन उपरिश्येन (हिन्दूकुश) पर्वत की तलहटी में बस
वाले छोटे-छोटे कबीलों की मुजानी और इश्काश्मी बोलियों का व्याकरण
बन रहा है और यह सब कार्य कौन करा रहा है? वही राष्ट्रीय-कल्प
वृक्ष के रोम-रोम में नवीन चेतना की अनुभूति इस कार्य-जाल की मूल प्रेरक
शक्ति है।

इस कार्य का अधिकांश सूत्रपात और मार्ग-प्रदर्शन तो विदेशी विद्वानों
के द्वारा हुआ है और हो रहा है। हम हिन्दी के अनुचर तो अभी बड़े
सतर्क होकर फूँक-फूँककर पैर रख रहे हैं। प्रचण्ड शक्तिशालिनी हिन्दी
भाषा की विभूति का विशाल मन्दिर जानपदी भाषाओं को उजाड़कर
नहीं बन सकता, वरन् इस पंचायतनी प्रासाद की दृढ़ जगती में सभी
भाषाओं और बोलियों के सुगढ़ प्रस्तरों का स्वागत करना होगा।

हम सोये पड़े थे, पर अध्यवसायी टर्नर महोदय नेपाली बोली का
निरुक्त-कोष सम्पन्न कर चुके। हम अभी जँभाई लेकर आँखें मल रहे हैं,
उधर वे ही मनीषी जागरूक बनकर हिन्दी-भाषा का उसकी बोलियों के
आधार से एक विराट् निरुक्त कोष रचने में अहर्निश दत्तचित्त हैं।

कार्य अनन्त हैं। हमारे कार्यकर्ता गिनती के हैं। उनके साधन भी
परिमित हैं। वैज्ञानिक पद्धति से कार्य करने की कला भी हममें से बहुतों को
सीखनी है। फिर पारस्परिक स्पर्धा का अवसर ही कहाँ रहता है? जानपदी

संगम पर स्थित कालसी गाँव में हिमालय के एक शिला खंड पर ये शब्द खुदे हुए हैं अर्थात् धर्म के लिए होने वाले इन दौरों का उद्देश्य—

(१) जानपद जन का दर्शन, (२) उनको धर्म की शिक्षा और (३) उनके साथ धर्म-विषयक पूछताछ करना था।

पृथ्वी को अलकृत करने वाले वैभवशाली सम्राट् के ये सरलता से भरे हुए उद्गार हैं। जहाँ पहले राजाओं को देखने के लिए प्रजा को आना पडता था वहाँ अब स्वय सम्राट् उनके बीच में जाकर उनसे मेल-जोल बढाना चाहते हैं। जानपद जन का दर्शन सम्राट् प्राप्त करे। यह भावना कितनी उदार, शुद्ध और उच्च है। इसीलिए एच० जी० वेल्स सरीखे ऐतिहासिकों का कहना है कि अशोक के हृदय से तुलना करने के लिए ससार का और कोई सम्राट् सामने नहीं आता। जानपद जन के सम्पर्क में आकर सम्राट् उनके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाना चाहते हैं। यही उस समय की वास्तविक लोक-शिक्षा थी। धार्मिक पक्ष की ओर ध्यान देते हुए भी जनता के लौकिक कल्याण की बात को अशोक ने नहीं भुलाया। प्रथम तो उन्होंने जनता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए जनता की सीधी-सादी ठेठ भाषा का सहारा लिया। राज-काज में भाषा-सम्बन्धी यह परिवर्तन अशोक की अपनी विलक्षण सूझ और साहस का फल था। उस समय कौन सोच सकता था कि सम्राट् के धर्म-स्तम्भों पर जनता की ठेठ भाषा स्थान पाने के योग्य समझी जायगी। तुष्ट की जगह 'तूठ', ब्राह्मण की जगह 'बमन', और पौत्र के लिए 'पोता', ये इस ठेठ बोली के उदाहरण हैं।

जानपद जन का परिचय पाने के लिए जानपदी भाषा का उचित आदर अत्यन्त आवश्यक है। जानपद जन के प्रति श्रद्धा होने के लिए जानपदी बोली के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए। अशोक ने लोकस्थिति सुधारने का दूसरा उपाय यह किया कि एक विशेष पद के राजकीय पुरुष नियुक्त किये, जिनका कार्य केवल जानपद जन के हित सुख की चिन्ता करना था। उनको लेख में राजुक कहा गया है। ये लोग इतने विश्वसनीय, नीतिधर्म के पक्के, आचार में सुपरीक्षित और धर्मनिष्ठ थे कि अशोक ने स्वय लिखा है :

सहायक ग्रन्थ एवं सामग्री का निर्देश

१. 'मालवा में युगान्तर'—डॉ० रघुबीरसिंह ।
२ 'राजस्थानी भाषा'—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ।
३. 'ढोला मारूरा दूहा'—नागरी प्रचारिणी सभा ।
४ 'प्राचीन भारत का इतिहास'—डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ।
५ 'हिन्दी-काव्य-धारा'—राहुल सांकृत्यायन ।
६ 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
७ 'मध्यकालीन धर्म-साधना'— ,, ।
८ 'पृथिवी-पुत्री'—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ।
९ 'मालवी लोक-गीत'—श्याम परमार ।
१० 'निमाडी लोक-गीत'—रामनारायण उपाध्याय ।
११ 'हुएन्त्सॉंग का भारत-भ्रमण'—अनु० ठाकुरप्रसाद शर्मा 'सुरेश'
१२ 'जागीरदार' (मालवी-नाटक)—डॉ० नारायण विष्णु जोशी ।
१३ 'युगल विनोद'—युगलकिशोर द्विवेदी ।
१४ 'गुरु ज्ञान गुटका'—गुणानन्द महाराज ।
१५. 'तत्त्वज्ञान गुटका'—केशवानन्द महाराज ।
१६ 'नित्यानन्द विलास'—नित्यानन्द जी ।
१७ 'मालवी कविताएँ'—मालव-लोक-साहित्य परिषद्, उज्जैन ।
१८ 'मालव, मालव-जनपद और उसका क्षेत्र-विस्तार'—सूर्यनारायण व्यास ।
१९. 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'—(१४वाँ संस्करण) ।
२०. 'गायकवाड ओरिएण्टल सीरिज' (सख्या ३७ और १) ।

नित्यानन्द विलास—नित्यानन्दजी।

संत सिंगाजी—सिंगाजी साहित्य शोधक मण्डल, खण्डवा

माच-साहित्य. बालमकुन्द गुरु-लिखित 'राजा भरथरी', 'गेंदापरी', 'देवर-भौजाई', 'कुँवर खेमसिंह', 'सेठ सेठानी', 'सुदबुद सालगा', 'नागजी दूदजी' आदि, (शालिग्राम पुस्तकालय, उज्जैन)।

लेख : 'मालवी', (श्याम परमार) 'जनपद', अंक—१ (१९५२) 'जन्म-संस्कार के मालवी लोक-गीत', (श्याम परमार), 'जनपद' अंक ४ नवम्बर, ५३, 'मालव लोक-गीतों में नारी', (प्रभागचन्द्र शर्मा), 'हंस', सितम्बर, १९४०, 'बालावऊ', 'नई धारा', अप्रैल, १९५३।

कथा-साहित्य. 'वाह रे पट्ठा मारी करी' (धारावाहिक उपन्यास), श्री निवास जोशी 'वीणा' मासिक, १९५१-५३।

विविध . 'विक्रम' मासिक में प्रकाशित श्री चिन्तामणि उपाध्याय के लेख, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, 'वीणा' और 'मध्यभारत संदेश' (ग्वालियर) एवं इन्दौर के दैनिकों के विशेषांकों की सामग्री।

अंग्रेजी मे प्रकाशित सामग्री

G R Pradhan, 'Folk Songs from Malwa', the Journal of the department of Sociology, Bombay, Vol VII and XI

Shyam Parmar, 'Garba Festival in Malwa & Gujrat', Bharat Jyoti, Bombay, Nov 23, 1947

" , 'Basant Puja in Malwa', B J Jan. 1947

" , 'Peasant Folk Songs', B J Dec 5, 1948

" , 'Folk Songs of Savan in Malwa', Amrit Bazar Patrika (Allahabad), Oct , 1950

" , 'Sauja Puja', The Hindusthan Standard, Delhi, Dec 7, 1952

Lekoda Survey Report by Pratibha Niketan, Ujjain

●